

भगवज्जिनसेनाचार्य शककी ८ वीं शताब्दीमें हुए हैं । उन्होंने आदिपुरुषके मंगलाचरणमें—

‘चन्द्रांगुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुये ।

कृत्वा चन्द्रोदयं येन शशदात्तादितं जगत् ॥ १ ॥’

इस श्लोकसे न्यायकुमुदचन्द्रोदयके कर्ता श्रीप्रभाचन्द्रआचार्यकी स्तुति की है । प्रभाचन्द्र आचार्यने न्यायकुमुदचन्द्रोदयमें “सूर्यका उदय तो हुआ, अब चन्द्रका उदय किया जाता है ।” इस आशयका गद्य देकर, प्रमेयकमलमार्त्तण्डका कर्तृत्व अपनेमें ही स्वीकार किया है । और प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी समामिमें निम्नलिखित पाठ देकर, भोजदेवके राज्यमें धारानगरीमें अपना निवास विदित किया है ।

“इति श्रीभोजदेवराष्ट्र श्रीमद्भारानिवासिना परमपरमेश्वरिणामार्जितामलपुण्यनिराकृत-
कर्ममलकलङ्गेन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निरितलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीश्रामुपपद्भिषू-
तमिति ।”

इस प्रमाणसे शककी ८ वीं शताब्दीके पूर्व मानवदेशमें एक बृद्ध भोजका होना निश्चित होता है । और यदि वह बृद्ध भोज श्रीनेमिचन्द्रके समयका (शककी ७ वीं शताब्दी) में ही हो तो कोई आश्चर्य नहीं । अब रही श्रीनेमिचन्द्रके मानवदेशमें अस्तित्वकी और गोमन्थेटीके निमित्त इत्यसंग्रह बगानेकी यात्रा, सो यह असंभव नहीं । क्योंकि, जैननिर्गम्याचार्य सदा एक स्थानमें न रहकर प्रायः प्रायमें विहार करते हैं । और भव्यजीवोंमें उनका स्वभावसे धार्मिक अनुग्रह भी रहता है । अतः दक्षिणमें विहार करनेके पूर्व उक्त आचार्यने मानवदेशको मुशोभित किया हो, और जेथे श्रीचामु-
ण्डरायकी प्रार्थनापर गोमन्थेटीका शास्य रहे । उन्हीं प्रकार गोमन्थेटीके निमित्त इत्यसंग्रह भी रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है ।

श्रीनेमिचन्द्रके शुरुजन.

उक्त महापुरुष श्रीनेमिचन्द्रके शुरु तीन २ थे । इस विषयकी अन्वेषणा करनेपर गोमन्थेटीमें निम्नलिखित गाथायें मिली हैं ।

“जमिऊण अमयणंदिं मुदसागरपारणिंदणंदिगुरुं ।

वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पचयं बोच्छं ॥ १ ॥

जमहं गुणरयणभूतणसिद्धंतामियमद्विषभवभावं ।

वरवीरणंदिचंदिं जिम्मल्लगुणमिदणंदिगुरुं ॥ २ ॥

जरसय पायपसाएण सांतसांसारजलहिसुत्तिणो ।

वीरेंदणंदिचच्छो जमामि सं अमयणंदिगुरुं ॥ ३ ॥

वरेंदणंदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धं ।

सिरिक्कणयणंदिगुरुणा सत्तट्ठाणं समुत्तिष्ठं ॥ ४ ॥

अर्थात् ‘मैं अमदनन्दीको, झुतसागरके धारगामी हेन्दनदीको और श्रीवीरबेदीम्हारीको बदरवार करके प्रभुनिप्रत्यय अधिकारको बहता हूँ । १ । गुणरूपी रत्नके भूषण और निदान्तहरी अमृत महोदधिसे उत्पन्न ऐसे श्रीवीरबेदी चन्द्रमाको और निर्मल गुणोंके धारक श्रीहेन्दनन्दी गुरुको नमस्कार करता हूँ । २ । जिसके चरणोंके प्रसादसे श्रीवीरबेदी और हेन्दनन्दीवा स्थि में

(नेमिचन्द्र) संगमरमरमुद्रके पास हुआ, उन धीनभयनन्दीको मैं अत्यन्त बज्जता हूँ । ३ । धीन
नन्दी मुद्रके पास संगमरमरमुद्रके मुनिकर धीननन्दनी मुद्रके संगमरमरमुद्रके संगमरमर । ३ ।

इन गायत्रियों में सिद्धि होता है कि, धीनभयनन्दी, धीननन्दी, धीननन्दी और धीननन्दी
ये चारों महाआचार्य धीनभयनन्दीके गुरु थे ।

उक्त चारों आचार्य हमारे चरित्रनायकके गुरु हैं । इन कारण प्रसंगवश इनका भी संक्षेप
रीतिमें वर्णन करना उचित समझते हैं । यह इत्यन्त है—

धीनभयनन्दी.

आप धीनभयनन्दीके ही गुरु नहीं थे, किन्तु धीननन्दीके भी गुरु थे । इसीप्रकार धीननन्दी-
स्वामीने स्वविरचितचन्द्रप्रमचरितकाव्यकी प्रशस्तिमें आपका अपने गुरु मूलित किया है । जो
निम्नलिखित काव्यमें आपकी प्रशंसा की है ।

मुनिजननुतपादः प्राज्ञमिध्यापवादः

सकलगुणममृद्धमस्य शिष्यः प्रसिद्धः ।

अभयदमयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी

स्वमहिमाजितसिन्धुभोज्यलोकेकवन्धुः ॥

धीनभयनन्दीके रचे हुए बृहज्जैनचन्द्रव्याकरण १ अंगोविधान २ गोमटमारटीका विना सं-
दष्टिकी ३ कर्मप्रकृतिरहस्य ४ तत्त्वार्थसूत्रकी तात्पर्यवृत्ति ५ और पूजाकल्प ६ आदिग्रन्थ
सुने जाते हैं । परन्तु ये सब इन्दीके रचे हुए हैं, या अन्यके, यह निर्णय अभी नहीं हुआ ।

धीनभयनन्दी.

ये भी प्रसिद्ध जैनार्च्य हैं । इनके रचे हुए चन्द्रप्रमचरितकाव्य १ आचारमार २ और शि-
ल्पसंहिता ३ ये तीन ग्रन्थ हैं । इनमें शिल्पसंहिता अभी तक देखनेमें नहीं आई । आचार मा-
रमें आपने कईस्थलोंमें धीनभयनन्दीत्रैविद्यदेवका अतिशय प्रशंसावाचक पद्योंमें स्मरण किया है । धी-
नभयनन्दीका कहीं भी नाम नहीं लिया । अतः अनुमान होता है कि, धीनभयनन्दीका शिष्यत्व
स्वीकार करनेके पूर्व आप धीनभयनन्दीके आश्रयमें रहे हैं । और आचारमारका निमाण धीनभयनन्दीके
अस्तित्वमें किया है । आपके विषयमें निम्नलिखित महाप्रशंसावाचक पद्य हमको बाहुबलीचरित्रमें
मिलता है—

धीनभयनन्दीप्रसिद्धविलसत्सिंहासनाधीश्वरो

भास्वत्पद्मसहस्रशिष्यमुनितामसंजुलैर्गवतः ।

धीनभयनन्दीवादिबद्धनकरो भव्यादिहृत्कैरवा-

नन्दो भाति सुवीरनन्दिमुनिचन्द्रो वाक्यचन्द्रावपैः ॥

(१) इन धीनभयनन्दी के गुरु धीनभयनन्दी आचार्य थे ।

(२) 'शिल्पसंहिता' यह अनित्य उपयोगी ग्रन्थ है, अतः पाठकोंकी इसके अन्वेषण करनेमें तत्पर
रहना चाहिये ।

(३) आचारमारके कतां दूसरे धीननन्दी ही तो भी कोई आशय नहीं । क्योंकि, एक नामके चारक कई
जैनार्च्य हुए हैं ।

अर्थात् चंगपुरस्थ प्रसिद्ध सिंहासन (पट्ट)के स्वामी, पांचहजार मुनिशिष्यरूप तारागणसे वेष्टित, भव्यजीवोंके हृदयरूपी कुमुदको आनन्दित करनेवाले और देशीगणरूपी समुद्रके वृद्धिकारक ऐसे श्री धीरनंदीचंद्रमा अपनी वचनरूपी चंद्रिका (चांदनी) में शोभायमान हैं ॥

श्रीइन्द्रनन्दी.

इनकी प्रशंसा करनेवाले कई श्लोक हमारे देखनेमें आये हैं, परन्तु विस्तारमयमे निम्नलिखित दो श्लोक ही उद्धृत करते हैं ।

माद्यत्प्रत्यर्थिवादिद्विरदपटुपटाटोपकोपापनोदे

बाणी यस्याभिरामा मृगपतिपदवीं गाहते देवमान्या ।

स श्रीमानिन्द्रनन्दी जगति विजयतां भूरिभावानुभावी

दैवतः कुन्दकुन्दप्रभुपदविनयः स्वागमाधारथभुः ॥ १ ॥ (मतिपेणप्रशस्ति)

हुरितप्रहनिप्रहाह्वयं यदि भो भूरि नरेन्द्रवन्दितम् ।

ननु सेन हि भव्यदेहिनो प्रणुन श्रीमुनिमिन्द्रनन्दिनम् ॥ २ ॥ (नीतिधार)

भावार्थ—परवादीरूपी गजेन्द्रोंके कोरको दूर करनेमें जिनकी देवोंकरके माननीय बाणी सिंहके समान आचरण करती है, वे अनेक भाषोंको अनुभव करनेवाले श्रीकुन्दकुन्दाचार्यमें अस्तिके धारक, जिनमतानुकूल आचरणमें निपुण और दैवज्ञ ऐसे श्रीइन्द्रनन्दी जगत्में जयधने रहें । १ । हे भव्यजीवो ! यदि तुमको पापरूपी ग्रहकी पीड़ासे भय है, तो बहुतमे राजाओंकरके वंदनीय ऐसे श्रीइन्द्रनन्दी मुनिका सेवन करो । २ ।

उक्त महानुभावके रचे हुए शान्तिचक्रपूजा १ अंकुरारोपण २ मुनिप्रायश्चित्त (प्राज्ञमें) ३ प्रतिष्ठापाठ ४ पूजाकरूप ५ प्रतिमासंस्कारारोपणपूजा ६ मानुषकार्यपूजा ७ औपधिकार ८ भूमिकल्प ९ समयभूषण १० नीतिस्तार ११ और इन्द्रनंदिसंहिता प्राकृत १२ इत्यादि ग्रन्थ सुननेमें आये हैं । इससे जान पड़ता है कि, आप सिद्धान्तविषयमें ही मौढ नहीं थे, किंतु चरणानुयोग और मन्त्रशास्त्रमें भी अतिशय निपुण थे । श्रीनेमिचन्द्रने जो प्रतिष्ठापाठ बनाया है, वह भी इन्हींके प्रतिष्ठापाठके आधारसे रचा हुआ है । और इनके पश्चात् होनेवाले प्रायः सभी पूजाप्रकरण और मन्त्रपाद संबंधी शास्त्रकारोंने आपका मत सादर ग्रहण किया है ।

श्रीफानकनन्दी.

इनके विषयमें हमको विशेष परिचय नहीं मिला परन्तु जैसे—श्रीअभयनंदी, श्रीवीरनंदी, श्रीइन्द्रनंदी और श्रीनेमिचन्द्र वे चारों आचार्य सैद्धान्तिकचक्रवर्तीके पदसे भूषित थे. उन्हीं प्रकार वे भी सैद्धान्तिकचक्रवर्ती थे.

(१) इनमेंसे नीतिस्तार, अंकुरारोपण तथा इन्द्रनंदिसंहिता ये तीन ग्रन्थ हमारे देखनेमें भी आये हैं । संहितामें दायभाग आदिषा निम्नपण है, परन्तु प्राकृत होनेसे बंधार्य कार्यका भान नहीं होगा । यदि इसकी शुद्ध प्रामांय्य प्रति और टीका टिप्पणीकी प्राप्ति हो जाय तो उसके आधारमें जैनजीविके दाय-भाग आदि कई व्यवहारोंमें शास्त्रानुसृत सुधारा हो सकता है । अतः पाठकोपी इनके अन्वेषणमें लक्ष प्रयत्न करना चाहिये ।

(२) श्रीनेमिचन्द्रप्रतिष्ठापाठ की अपूर्ण पुस्तक हमनें देखी है । सुनते हैं दक्षिणमें पूर्ण पुस्तक विद्यमान है ।

इस प्रकार हम ग्रन्थों का प्रमाणों द्वारा अनिर्गम्य मूल ग्रन्थकार अतिशय प्रशंसित करने के लिए, अब टीका और टीकाकार श्रीब्रह्मदेवजी के विषय में कुछ लिखना चाहते हैं।

बृहद्रव्यसंहिता टीका.

यह तीन हजार श्लोकों की ग्रन्थों का घाण्य करती है। इसमें ग्रन्थकार पुराण आदि पद्यों का वर्णन नहीं है, किन्तु पद्यों के परिश्रम को अलगाव किया गया है। इसलिये यह टीका अध्यात्मविषय का एक अच्छा ग्रन्थ मुख्यता के लिये हुए कथन होनेसे अध्यात्मविषय सबसे कठिन विषय है। नहीं है कि, वे इसके मर्मों को समझ सकें। और जो बुद्धिमान हैं, वे भी न जाननेसे पदपदमें भ्रमान्वित हो जाते हैं। यही नहीं, किन्तु कितने ही कवि और अध्यात्मरसके रसिक धनारसीदासजी केवल समयभार के लिये भयो न आत्म स्वयं। हुई धनारसिकी दशा जैम उद्धरणों के कारण एकबार व्यवहारचारित्र्यको जलजली दे चुके थे। उसी प्रकार स्मरण करनेका अन्तमय जिनधर्मके शिखरसे पतनको प्राप्त हो कथनके साथ २ ही व्यवहारका कथन भी विद्यमान होनेसे इस की कहावत चरितार्थ होती है। और इसके पदोंसे अम उत्पन्न होते हैं। अतः अध्यात्ममहलमें चढ़नेके लिये इस टीकाको प्रथम सोपान नहीं है। इसमें प्रसंगपर बहुतसे उपयोगी विषयों का वर्णन है, जो कि कन करनेसे विदित होगा। संस्कृत इसमें ऐसा सरल है कि, जिससे समझा जा सकता है। और प्रकृत विषयकी प्रकृति के लिये व्याख्यान के लिये काय, तत्त्वानुशासन, लोकविभाग, पञ्चनमस्कारमाहात्म्य और शास्त्रों के प्रमाण भी उक्त च से लिखे हुए हैं। जिससे किसी भी अत एव यह बृहद्रव्यसंहिता टीका संस्कृतयूनिवर्सिटी की नियत है। और जयपुर की सरकारी संस्कृतयूनिवर्सिटी की नियत होने वाली है।

श्रीब्रह्म-देवजी.

हमको उक्त टीकाके कर्ता महाशय का नाम देवजी और ब्रह्म है। जिसका नामके पहिले लगानेसे 'ब्रह्म-देवजी' ऐसा शब्द

(१) तत्त्वानुशासन, लोकविभाग और अन्तमय और अनिर्गम्य उपयोगी ज्ञान पदों हैं। परन्तु यह है—कि इनका शास्त्रों परसे लगानेवाले धनारस भाई जिनकाणियों श्रीब्रह्मदेवके समान ही भक्त स्वयं के समस्त सरस्वतीभारों का सूचीबद्ध बनानेमें तो रामें अत्यन्त श्रम करे।

(१) 'ब्रह्म' इस का हम ग्रन्थों का प्रमाणों द्वारा अतिशय प्रशंसित करने के लिए

अनुवादकी प्रार्थना.

सज्जन-विद्वज्जन-पाठक महाशय !

आज मैं आपके करकमलोंमें इस सटीकबृहद्ब्रह्मसंग्रहके अमृतपूर्व हिंदीभाषानुवादको समर्पण करके कृतार्थ होता हूं। इस सटीकबृहद्ब्रह्मसंग्रहकी प्रशंसा प्रस्तावनामें बहुत कुछ लिखी जा चुकी है। और इसमें जिन २ उपयोगी विषयोंका वर्णन है, उनका सूचीपत्र भी पृथक् प्रकाशित है। अब यहांपर विशेष बक्तव्य यह है, कि, इस अतिशय लाभप्रद ग्रन्थरत्नका इस अनुवादके पूर्व कोई अनुवाद नहीं था। जिसके न होनेका कारण यह है, कि, जैनसमाजमें संस्कृतशास्त्रोंके अनुवाद (वचनिकायें) रचकर, उनके द्वारा सर्वसाधारणका उपकार करनेवाले श्रीडोडरमल्लजी, व श्रीजयचन्द्ररायजी आदि विद्वान् बहुत ही अल्पसंख्याके धारक हुए हैं। उनसे अपने पर्यायमें जितने शास्त्रोंकी वचनिकायें बन सकीं, उतनी ही वे बनाने पाये। अधिकके लिये विवश रहे। क्योंकि, प्राकृत और संस्कृत भाषामय दो अपार पारावार हैं। इनमें इस लोक और पर लोकसंबन्धी हितोपदेश-रूप प्रकाशके धारक तथा पूर्वापरविरोधादि दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्मल ऐसे लक्ष्य-वधि जैनग्रन्थरत्न विद्यमान हैं। उन सबका देशभाषामें अनुवाद कर देना अथवा अवलोकन करना तो दूर रहा, सूचीपत्र बनाना भी दुःसाध्य है। ऐसी दशामें इस ग्रन्थरत्नका भी वचनिकासे वंचित रह जाना सुसंभव ही था।

आपके पुण्यममावसे जयपुररत्न पूर्वविद्वानोंद्वारा स्वीकृत वचनिकानिर्माणरूपका-र्यका नाममात्र निर्वाह करनेके लिये जो कुछ सामर्थ्य मुझमें उत्पन्न हुआ है। उसीका यह फल है, कि, मैं २५ वर्षकी अवस्थामें इस दुर्लभोप अध्यात्मविषयक महाशास्त्रका सर्वतः प्रथम अनुवाद रचकर, उसको आपके करकमलोंमें समर्पित करता हूं।

यद्यपि मुझको पूर्ववचनिकाकारोंका अनुकरण करके द्वंद्वारीभाषामें ही अनुवाद करना उचित था। परन्तु समयके फेरमें पूर्ववचनिकाओंका भी हीनाधिक्यपूर्वक हिंदीभाषामें अनुवाद होना हुआ देखकर, आधुनिक जैनसमाजके संनोपार्थ और अन्य अनुवादकोंको विष्टपे-षजनित परिधममे रक्षणार्थ मैंने सर्वदेश प्रचलित हिंदीभाषामें ही अनुवाद किया है।

पूर्ववचनिकाकारोंने स्वयं २ में भावार्थ देकर कठिन विषयको स्पष्ट भी किया है। परन्तु भावार्थ देनेमें बुद्धिहीन विशेष स्वातंत्र्य मिश्रता है। और उस स्वतंत्र्यमें ग्रन्थकारके, प्रकरणके, व शास्त्रके विरुद्ध त्रिमे जातिका अनुवादमें भी अधिक भय रहता है। इस कारण मैंने ग्रन्थ भावार्थ नहीं दिया है।

कितने ही विशेषज्ञ मनुष्य हिंदीभाषाको भी संस्कृतभाषाकी लघुमहिनी (छोटी बहन) बनानेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं। अर्थात् जैसे सर्वनामशब्दोंका प्रयोग करके और भिन्न २ दोषोंको समासशृंखलामें बांध करके संस्कृतको संक्षिप्त कर लिया जाता है। उसी प्रकार वे हिंदीभाषाको भी संक्षेपरूपमें लाना चाहते हैं। परंतु शास्त्रीयविषयमें वह संक्षेप मुझको रुचि कर नहीं है। क्योंकि—जैसे तारके संक्षिप्त और संकेतित शब्दोंमें उसके आशयज्ञ ही लाम उ सकते हैं, उसी प्रकार जो शाब्दिक रहस्यज्ञ हैं, उन्हींको उस संक्षिप्तभाषामें लाम मिल सकता है। इसलिये सर्वसाधारण कभी कभी अनर्थमें प्रवृत्त होकर लामके बदले हानिके मा हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी कारण मैंने यथाशक्य सममितपदोंको भिन्न २ कर अनुवाद किया है।

एकभाषाके शब्दोंका दूसरी भाषाके शब्दोंमें पूर्ण अनुवाद करके उस अनुवादको सा गुणमंपन्न और रुचिकर वाक्यपद्धतिमें ले जाना कठिन ही नहीं? किन्तु प्रायः अयंभव है अत एव कितने ही अनुवादक मूलके आशयको ग्रहण करके उसको मनोहर भाषामें लि टालते हैं। परन्तु उससे 'किस पद व वाक्यका क्या अनुवाद है' इस जिज्ञासामें सर्वसाधारणको हताश होना पड़ता है। इसकारण मैंने यह अनुवाद प्रायः मूलके अनुसार लि है और जहाँपर भाषा अतिशय विरस होती थी, वहींपर मूलके आशयको ग्रहण किया है।

यद्यपि मैंने सावधानतापूर्वक तीन पुस्तकोंके आधारोंसे मूलको शुद्ध करके, तदनुरूप यह अनुवाद लिखा है। तथापि मूलमें अशुद्धता रह जाना संभव है। अतः अशुद्धमूल कारण यदि अनुवाद यथार्थ न हुआ हो तो हम दोषका भागी हैं नहीं हैं। अपने समय कापी देनेकी क्षीप्रतामें कितना ही प्राकृतका उक्त व पाठ यथार्थ अनुवादमें बेचिन र गया था। उसको अनि परिश्रमसे स्पष्ट करके विशेष सूचनाओं लगा दिया है। एवं समाद अथवा अनुपस्थितिमें बहुतसे कामोंके छपनेसे अन्य जो कितनी ही अर्थाशसंबन्धी शु अशुद्धियां रह गई थी, उनको भी यथाशक्य शुद्धिपत्रद्वारा शुद्ध कर दी हैं। तथापि जो दुर्जन मनुष्य हैं, वे अपने स्वभावानुकूल अनुवादमें स्वतन्त्र-लिङ्गभेद-सूत्रव्य-अर्थ-मद-पुनरुक्ति-भाषावैरस्य और विरामादि बिन्दुकी अनुचित योजना आदि गुच्छ दोषों ग्रहण करके, उनकी कड़ी समालोचना किये बिना न रहेगे। परंतु यदि वे समालोचना परिश्रमको न करके, उन दोषोंसे मुझे सूचितकर देंगे, तो मैं विशेष हतुश होकर द्विग वृत्तिमें उन दोषोंको निकाल डालनेका प्रयत्न करूंगा।

आजकल जैनपरमेश्वर विद्वानोंके आत्म्य अनवकाश तथा निम्नीय राजन्यके कारण प्राय कितने ही पुनःपरचयिता निरुद्ध होकर धर्म व मूलसे विरुद्ध पुस्तकें लिखने लगे हैं। ऐसी पुस्तकोंसे यद्यपि इस समय विशेष हानि न होगी। परंतु ये ही कालांतरमें भाषा रोचक मनुष्योंके प्रमाणताको प्राप्त होकर धर्म व मूलका तिरस्कार करनेमें समर्थ हो आवेगी।

इस स्थलमें कोई कह सकते हैं कि यदि ऐसा है तो वह प्रबन्ध किया जावे कि नवीन पुस्तकोंका निर्माण न हो सके। परन्तु यह अनुचित है। क्योंकि, वे उद्देश्य थे। वे यदि उक्त भयसे डर कर शास्त्र न रचते, तो, आज जो समाजें ज्ञानका उद्योत है, वह किसके आधार पर होता। अतः नवीन पुस्तकोंका न सर्वथा हानिकारक है। हां पुस्तक रचयिता और धर्मके विशेषज्ञोंको निरन्तर यह अवश्य रखना चाहिये कि, कोई पुस्तक विरुद्ध न बन जावे।

यद्यपि मैंने यह अनुवाद बहुत विचारपूर्वक लिखा है। अतः सहसा नहीं है। तथापि सर्वथा निर्दोष है, यह भी मैं नहीं कह सकता। इसलिये समस्त प्रार्थना करता हूँ कि, वे अपने आलस्यको त्याग कर और मुझपर अनुग्रह करके दृष्टिसे इस समस्त अनुवादको मूलसे मिलावें। और जो कुछ विरुद्ध प्रतीत हो, मुझे सूचित करें। जिससे कि यह अनुवाद शुद्ध कर लिया जावे और फिर इस निर्दोषतामें किसीप्रकारका संशय न रहे।

श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलकी तरफसे इस बृहद्ग्रन्थसंग्रहका अनुवाद वैय्याकरणाचार्य श्री ठाकुरप्रसादजीशर्माद्वारा कराया गया था। और मुझको उसके संशोधनका भार दिया गया था। परन्तु कई विशेषकारणोंसे उस अनुवादकी अपेक्षा न रख कर मुझे सर्वथा नूतन अनुवाद करना पड़ा। इसलिये इस अनुवादजनित यश तथा अपयशका भागी मैं ही हूँ।

अन्तमें जिनकी अहर्निश प्रेरणा और अनुग्रहसे सद्बिद्याको प्राप्त करके मैं इस अनुवादके करनेमें समर्थ हुआ, उन श्रीमती जयपुरस्थ जैनमहापाठशालाके प्रबन्धकर्त्ता सौम्यमूर्त्ती सद्बिद्यारसिक पूज्यश्री पं० भोलेलालजीशेठीको, जिनके अनुरोधसे इस ग्रन्थसंग्रहके अनुवादन तथा संशोधनकर्ममें प्रवृत्त हुआ, उन श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डलके व्यवस्थापक महोदयोंको, और जिन विद्वानोंने इसके अनुवादन व संशोधनमें सहायता दी है, उन सबको कोटिशः धन्यवाद देकर इस प्रार्थनाको समाप्त करता हूँ। इत्यलम्।

विजयादत्तजी कुपठार वि. सं. १९६४, }
ता० १८-१०-६७ ईस्वी. }

हस्ताक्षर विज्ञानाचार अनुवादक जयपुरनिवासी—
श्रीजवाहरलाल शास्त्री, वि. जैन.

अथ विषयसूची प्रारम्भ्यते ।

सं.	विषय	पृष्ठ.	वि. सं.	विषय	पृष्ठ.
१	टीकाकारका मंगलाचरण.	१		'अणुगुरुदेहपमाणो' गाथा० १०.	२०
२	उपोक्षण	॥	१६	'जीव निजसारीरके भरावर है' यह वर्णन.	२१
३	तीन अधिकारोंका वर्णन	२		'पुढविजलतेउवाओ' गाथा० ११.	२४
४	प्रथम अधिकारके अंतर्गताधिकार	३	१७	'जीव कर्मवरा तत्तत्स्थावरपनेको पाता है' यह वर्णन	॥
५	प्रथम अंतर्गताधिकारकी समुदायपा- तनिका	॥		'समणा भमणा जेवा' गाथा० १२.	२५
	प्रथम अधिकारके प्रथम अंत- र्गताधिकारका प्रारंभ.	४	१८	चौदह जीवसमाधोंका वर्णन ...	२६
	"जीवमजीवद्वंद्वं" गाथासूच १.	॥		'मग्गणगुणठाणेहि य' गाथा० १३.	२७
६	मंगलाचरण.	॥	१९	चौदह गुणरूपान और चौदह मा- गणा स्थानोंका वर्णन ...	॥
७	संबन्ध, अभिधेय और प्रयोजनका सूचन.	६		'णिकम्मा अट्टगुणा' गाथा० १४.	३५
	'जीवो उवओगमओ' गाथा० २.	७	२०	विद्वज्जीवका स्वरूप और जीवके ऊर्ध्वगतिसम्भावका वर्णन ...	३६
८	जीव आदि माँ ९ अधिकारोंका सूचन	॥		प्रथम अधिकारके द्वितीय अंत- र्गताधिकारका प्रारंभ.	४३
	'तिक्काले चटुपाणा' गाथा० ३.	१०		'अज्जीवो पुण जेओ' गाथा० १५.	॥
९	जीवकी गिद्धिका व्याख्यान.	॥	२१	पुद्गलद्रव्यका वर्णन ...	॥
	'कवओगो हुवियप्पो' गाथा० ४.	११		'सरो बंधो सुहुमो' गाथा० १६.	४४
१०	मुख्यतामे दर्शनोपयोगका वर्णन.	॥	२२	पुद्गलद्रव्यके विभाव्यजनप- योगका वर्णन ...	४५
	'णाणं अट्टवियप्पं' गाथा० ५.	१२		'गइपरिणयाण धम्मो' गाथा० १७.	४७
११	आट्टप्रकारकज्ञानोपयोगका वर्णन.	॥	२३	धर्मद्रव्यका वर्णन.	॥
	'अट्टचटुणाणइं सण' गाथा० ६.	१५		'ठाणजुदाण अधम्मो' गाथा० १८.	४८
१२	मयोंके विभागमे ज्ञान तथा दर्श- नोपयोगका वर्णन.	॥	२४	अधर्म द्रव्यका वर्णन.	॥
	'वण्णरसपंचगंधा' गाथा० ७.	१७		'अवगासदाण जोग्यं' गाथा० १९.	४९
१३	जीवकी अमूर्तताका वर्णन ...	॥	२५	आकाश द्रव्यका वर्णन....	५०
	'पुरगलकम्मादीणि' गाथा० ८.	१८		'धम्मामम्माम्मा कालो' गाथा० २०.	५०
१४	'जीव कर्त्ता है' यह वर्णन.	॥	२६	लोकाकाशका वर्णन.	॥
	'ववहारा सुहदुक्खं' गाथा० ९.	१९		'द्वयपरिवट्टरूवो' गाथा० २१.	५१
१५	'जीव मोका है' यह वर्णन ...	॥			

वि. सं.	विषय	पृष्ठ.	वि. सं.	विषय	पृष्ठ.
९५	धर्मध्यानका वर्णन	१७७		कर जो निज आत्मामें स्थिर होना	
९६	शुद्धध्यानका वर्णन	१७८		है वही धर्मध्यान है' यह वर्णन	१७७
९७	ध्यानको रोकनेवाले रूपादिकका वर्णन	१८०		'तपमुद्वद्वं वेदा' गाथा० ५७	२०७
	'पणनीससोलहप्यण' गाथा० ४९	१८२	१०७	'ध्यानही मिटिके स्थिति तब धुन और मन इन तीनोंमें तन्त्र हो' यह वर्णन	११
९८	पदस्थध्यानका वर्णन	"	१०८	'ध्यानके कारण तब, धुन और मन कैसे होते हैं' इस शंकाका समाधान	२०१
	'णट्टचदुष्साइकम्मो' गाथा० ५०	१८४	१०९	'इस समय ध्यान नहीं है' इस शंकाका समाधान	२०४
९९	अर्हत्परमेष्ठीके स्वरूपका वर्णन.	"	११०	'इस समय मोक्ष नहीं है फिर ध्यान क्या प्रयोजन है' इस शंकाका समाधान...	२०६
१००	सर्वज्ञकी सिद्धि	१८५	१११	धुन: मोक्षके विषयमें नयोंका विचार	२०७
	'णट्टचदुष्साइकम्मो' गाथा० ५१	१९०	११२	आमासब्दका अर्थ	२०९
१०१	सिद्धपरमेष्ठीके स्वरूपका वर्णन	"		'दश्वसंगहमिणं मुणिणाहा' का- ध्य ५८....	२१०
	'दंसणणागपहाणे' गाथा० ५२	१९१	११३	शास्त्रकारकी प्रार्थना	"
१०२	आचार्यपरमेष्ठीके स्वरूपका वर्णन.	"		तृतीय अधिकारकी समाप्ति	"
	'जो दयणत्तयजुत्तो' गाथा० ५३	१९३	११४	टीकाकारकी प्रार्थना	२११
१०३	उपाध्याय परमेष्ठीके स्वरूपका वर्णन.	"	११५	तीनों अधिकारोंके नाम और मन्त्रकी समाप्ति.	२१२
	'दंसणणागसमागं' गाथा० ५४	१९४			
१०४	साधुपरमेष्ठीके स्वरूपका वर्णन	"			
	'जं किंचिवि चित्तो' गाथा० ५५	१९६			
१०५	निश्चयध्यानके स्वरूपका वर्णन	"			
	'मा चिट्ठह मा जंपह' गाथा० ५६	१९७			
१०६	'मनवचनकायकी प्रवृत्तिकी रोक-				

बृहद्रव्यसंग्रहस्य सामान्यं शुद्धिपत्रम् ।

अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ	पृष्ठ	पंक्ति
मगतनि-	अगतनि-	५	११
राय आयरिओ ॥	रायभायरीओ ॥	६	१
व्याख्यानाम्	व्याख्यानु	"	१
सान्तधानुः	सान्तधानुः	१०	५
विदानन्द	सदा आनन्द	११	१६
सरबदानके	सरबदानकी प्राप्तिके	"	१७
-क्षये ज्ञाने चारित्र्या-	-क्षयः ज्ञानचारित्र्या-	१३	७
"पञ्चवक्त्रपरोक्षमेवं	"पञ्चवक्त्रपरोक्षमेवं	१४	३
शान्दबह्मदिक प्रत्यक्षका	शुब्दबह्मदिक	"	१४
जो विकल्प-	जो रागमादि विकल्प-	"	१५
अपेक्षा	अपेक्षा	"	१६
विषयाया अभावः	"	१५	१६
छद्मस्वप्नदृष्टान्दी	छद्मस्वप्नके ज्ञान और दर्शनकी अतृप्तताकी	१६	१३
और भी	और	"	१६
कथन करनेको अभिमत जो पदार्थ है, उस पदार्थके ज्ञानरूप बलुके }	पदार्थके	{	१०
पटिष्यत्	पटिष्यत्	१७	१३
मूर्त है	मूर्त है इत्यकारण समीक्ष्य होता है	"	१४
जीवने धनारमे	जीवने अनारिधितारमे	"	१६
त्रिष्टे-	छो ही दिनकाते है कि-	"	१६
उपचरित	अनुपचरित	"	१०
निष्पिब, परमभावनामे	और निष्पिब परम धैर्यकी भावनामे	१०	१
छद्म अछद्म भावोंका जो परिणामन है, उन्नीका }	परिणामनको प्राप्त होते हुए छद्म अछद्म भावोंका ॥	{	१४
परिणमनोंको	परिणमनोंका वर्तुण	"	१५
बधोक्ति	त्रित बारम्बार है कि	"	१६
मिडन्विषमाराण्डिड-	विओ-विषमाराण्डिओ	११	११
भाष्य	भाष्य	"	१५
प्रकारका विचार (कामादिअनितविचार) उत्पन्न करने का करानेके }	प्रकारकी विधिया करनेके	{ ११	१७
बहाव	उस प्रदेशको स्पर्श करनेके लिये	"	१०
उत्पत्ते	उसके मूलकारणको ब छोड़कर	१३	१
((निष्पिब)	"	४

विशेषमूचना ।

शुद्ध अनुवाद.

इस मण्णीणं पाणा सेसेगूणंति मण्णवे णूणा ॥

पज्जसे इदरेसु य सत्तदुगे सेसगे ऊणा ॥ २ ॥

पृष्ठ २६ पंक्ति १३.

इस गाथाका भावार्थ पृष्ठ २७ की पंक्ति १ से ५ तक में है, उसके स्थानमें निम्नलिखित भावार्थको शुद्ध समझना चाहिये । —

पर्याप्त अवस्थामें संशी पंचेन्द्रियोंके १० प्राण, असंशी पंचेन्द्रियोंके मनके विना ९ प्राण, चोईन्द्रियोंके मन और कर्णके विना ८ प्राण, तेईन्द्रियोंके मन, कर्ण और चक्षुके विना ७ प्राण, वेईन्द्रियोंके मन, कर्ण, चक्षु और प्राण के विना ६ प्राण और एकेन्द्रियोंके मन, कर्ण, चक्षु, प्राण, रसना तथा घ्रचनबन्धके विना ५ प्राण होते हैं । अवर्थातअवस्थाके चारक जीवोंमें संशी तथा असंशी इन दोनों पंचेन्द्रियोंके, श्वासोश्वास, घ्रचनबन्ध और मनोबन्धके विना ७ प्राण होते हैं और चोईन्द्रिय आदि एकेन्द्रियपर्यंत शेष जीवोंके कमानुसार एक एक प्राण घटता हुआ है । २ ।

“एवंतमुद्धदरसी” इत्यादि—

पृष्ठ ७६ पंक्ति २७-२८ ।

इस गाथाका अनुवाद पृष्ठ ७७ की पंक्ति २१-२४-२५ में है । उसके स्थानमें निम्नलिखित अनुवादको शुद्ध समझना चाहिये । —

“बौद्धमतवाले आदि एकाग्रतमिध्यायी हैं १ यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण आदि विरगीतमिध्यायके धारक हैं २ तापन आदि विनयमिध्यायी हैं ३ ईद्राचार्य आदि संशयमिध्यायी हैं ४ और मादरी आदि अज्ञानमिध्यायी ५ हैं”

“इंदुरवीदो रिकरा”

पृष्ठ ११९ पंक्ति १६-१७ ।

इस गाथाका अनुवाद पृष्ठ ११९ की ३२ वीं और पृष्ठ १२० की १-२ पंक्तिमें है, उसके स्थानमें निम्नलिखित अनुवादको शुद्ध समझना चाहिये । — एक गृहस्थमें चंद्र १७९८ एवं १८१० और मध्यम १८३५ गगनगंडोमें गगन करते हैं इसलिये अधिकभागमें मध्यमगंडोंके भाग देते हैं जो गृहस्थ प्राप्त होते हैं, उन गृहस्थोंको चंद्र और सूर्यके आसन्न गृहस्थ जानने चाहिये । अर्थात् उतने गृहस्थों तक चंद्रमा और सूर्यकी एक मध्यम पर स्थिति जाननी चाहिये ।

अवशिष्ट अनुवाद.

इन्द्रियकायाङ्गणिय पुण्णापुण्णे सुपुण्णगे आणा ।

वेईन्द्रियादिपुण्णेषु- बधीमणो सण्ण पुण्णे य । १ । पृष्ठ २७ पंक्ति ११-१२ ।

इस गाथाका अनुवाद पृष्ठ २७ पंक्ति १ में नहीं छपा है । इसलिये वहाँपर निम्नलिखित अनुवाद लगा देना चाहिये । —

“इन्द्रिय, वाय और आनु के तीनों प्राण पर्याप्त अवस्थात इन दोनों जीवोंमें होते हैं । उष्णमिध्यास प्राण पर्याप्तजीवोंमें ही होता है । वेईन्द्रिय आदि पर्याप्तोंमें कायबन्ध प्राण होता है और मनोबन्ध प्राण पर्याप्तसंशीपंचेन्द्रियोंमें ही होता है । १ ।

“गुणजीवापजत्ती” इत्यादि गाथाका निम्नलिखित अनुवाद पृष्ठ १५ पंक्ति १४ में लगा देना चाहिये ।

“गुणस्थान १४, जीवमयाम ९८, पर्यामी ६, प्राग १०, मेज्ञा ४, गतिमार्गणा ४, इन्द्रियार्गणा ५, कायमार्गणा ६, योगमार्गणा १५, वेदमार्गणा ३, कर्णमार्गणा ४, ज्ञानमार्गणा ८, संयमकाल ७, दर्शनमार्गणा ४, लेख्यामार्गणा ६, भव्यमार्गणा २, मय्यस्वरमार्गणा ६, संज्ञीमार्गणा २, स्वरमार्गणा २, उपयोगमार्गणा २, इन प्रकार वीग प्ररूपणा कही हैं ।”

‘सोलसपणवीसणमें’ इत्यादि गाथाका निम्नलिखित अनुवाद पृष्ठ ८४ पंक्ति १५ में देते करलेना चाहिये ।—

“मिध्यादृष्टी गुणस्थानमें १६, सासादनमें २५, मिथमें कुछ नहीं, असंयतमें १०, देगमंत्त ४, प्रगतमें ६, अप्रगतमें १, अपूर्वकरणनामक ८ वें गुणस्थानके जो ७ भाग हैं, उनमें प्रथमभाग २, छठवें भागमें ३०, और सप्तमभागमें ४, अनिवृत्तिकरणमें ५, सूक्ष्ममांशरायमें १६ उपसंगतक पाय और क्षीणकपायमें कुछ नहीं, संयोगकेवलीमें १ और अयोगकेवलीमें कुछ नहीं । इस प्रकार कमोंकी प्रकृतियें संघट्युच्छिन्न हैं अर्थात् उनका ऊपरके गुणस्थानोंमें संघ नहीं है । १ ।”

“तीसं वासा जम्मे”

पृष्ठ १२९की पंक्ति ११—१२ ।

इस गाथाका अनुवाद पृष्ठ १३० की पंक्ति २ में निम्नलिखित प्रकारसे समझ लेना चाहिये ।

“जो जन्मसे ३० वर्ष तककी अवस्थाको सुखमें व्यतीत करके वर्षपृथक्स्थ (८ वर्ष) पर्यन्त तीर्थकरके चरणोंमें प्रत्यास्थानको पढ़कर तीनों संध्याकालोंको छोड़कर प्रतिदिन दो कोस गमन करता है, उस मुनीके परिहारविशुद्धी संयम होता है । १ ।”

अनुवादरहित पाठ.

बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी पृष्ठ १० की पंक्ति १५—१६ में स्थित जो “बच्छ—रस्सर” और पृष्ठ १३५ की पंक्ति १४—१५ में स्थित “रयणदीव” इन दो उक्तंच दोहोंका भावार्थ समझने नहीं आया इसलिये अनुवाद नहीं लिखा गया है ।

अपूर्णपाठकी पूर्ति.

टीकाकारने “अस्त्यात्मानादिवदः” और “जयतिभगवान्” इन दो श्लोकोंकी टीकामें अपूर्ण लिखे हैं । उनको निम्नलिखित प्रकारसे पूर्ण करलेने चाहिये ।

नाभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्नियुक्ते—

रस्त्यात्मानादिवदः सुकृतजफलमुक्तत्थयान्गोक्षभागी ।

ज्ञाता दृष्टा खदेहप्रमितिरुपसमाहारविम्वारधर्मा

धौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणमुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः । १ ।”

(पृष्ठ ८ पंक्ति १४)

जयति भगवान् हेमाभोजप्रचारविभ्रंभितावमरमुकुटीच्छायोद्रीणप्रभापरिबुम्भितौ ।

कलुषहृदया भानोद्धान्ताः परस्परवैरिणो विगतकलुषा पादौ यस्य प्रपन्न विशिष्यतुः । १ ।

(पृष्ठ १४५ पंक्ति ८)

मुद्रणावशिष्ट पाठ

एवं कालद्रव्यव्याख्यानमुत्पत्तया पञ्चमस्थले सूत्रद्वयं गतम् । इत्यष्टगाथासमुदायेन पञ्चमः स्थलेऽजीवद्रव्यव्याख्यानेन द्वितीयान्तराधिकारः समाप्तः । पृष्ठ ५८ पंक्ति ११



रायचन्द्रजेनशास्त्रमाला

श्रीमत्तेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचितः

बृहद्रव्यसङ्ग्रहः ।

संस्कृतटीकया हिन्दीभाषानुवादेन च सहितः

(अनुपादकस्य महलाचरणम् ।)

श्रीवीरं जिनमानम्य जीवार्जीवावबोधकम् ।

द्रव्यसङ्ग्रहग्रन्थस्य देशभाषां करोम्यहम् ॥ १ ॥

(टीकाकारस्य महलाचरणम् ।)

प्रणम्य परमात्मानं सिद्धं त्रैलोक्यवन्दितम् ।

स्वाभाविकचिदानन्दस्वरूपं निर्मलाव्ययम् ॥ १ ॥

शुद्धजीवादिद्रव्याणां देशकं च जिनेश्वरम् ।

द्रव्यसङ्ग्रहसूत्राणां वृत्तिं वक्ष्ये समासतः ॥ २ ॥ युग्मम् ॥

भाषार्थः—सिद्ध, त्रैलोक्यसे वंदित, स्वभावसे उत्पन्न जो ज्ञान और सुख है उस स्वरूप, कर्ममलसे रहित तथा अविनाशी ऐसे परमात्माको, (सिद्ध परमेष्ठीको), और शुद्ध-जीव आदि पदद्रव्योंका उपदेश देनेवाले श्रीजिनेन्द्रभगवानको प्रणाम करके मैं (ब्रह्मदेव) द्रव्यसंग्रहनामक शास्त्रके सूत्रोंकी वृत्ति (टीका) को संक्षेपसे कहूंगा ॥ १ । २ ॥

अथ भाष्यदेशे धारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसम्बन्धिनः श्रीपालमण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रतवीर्यकरचैत्यालये शुद्धा-त्मद्रव्यसंवित्समुत्पन्नमुसामृतरसास्वादविपरीतनारकादिदुःखमयभीतस्य परमात्मभावनो-त्पन्नमुखमुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनायितस्य भक्ष्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाध-घनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजभेदिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं पार्श्वि-तिगायामिलेपुद्रव्यसङ्ग्रहं कृत्वा पञ्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्रव्यसङ्ग्रहस्या-धिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारम्भ्यते ।

राजकीयनियमानुसार सर्व हक अधिकर्ताओंने साधन रखे हैं ।

योडादुनियामी

श्रीयुत रायचन्द्र रत्ननी गांधी तरफर्फी

आ परमधुनगानाने भेटदागल

रु. २००) बगो आवेद ने बगल

श्रीपरमधुनप्रभावकमण्डल तरफ. श्री आ

श्री नेमिचन्द्रद्वामीविश्विन

बृहद्रव्यसद्ब्रह् ।

नामक. गन्धनुं

हिंदीमा भाषान्तर बगदी

तेना भाषागण

अधे

तेमने अपेण बरवामा आओते ते



रायचन्द्रजेनशास्त्रमाला

श्रीमत्तेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचितः

बृहद्ब्रव्यसङ्ग्रहः ।

संस्कृतटीकया हिन्दीभाषानुवादेन च सहितः

(अनुपादकस्य महन्ताचरणम् ।)

श्रीवीरं जिनमानस्य जीवाजीयावबोधकम् ।

ब्रव्यसङ्ग्रहग्रन्थस्य देशभाषां करोम्यहम् ॥ १ ॥

(टीकाकारस्य महन्ताचरणम् ।)

प्रणम्य परमात्मानं सिद्धं त्रैलोक्यवन्दितम् ।

स्वाभाषिकसिद्धानन्दसरूपं निर्मलाप्ययम् ॥ १ ॥

शुद्धजीवादिब्रव्याणां देष्टाकं च जिनेश्वरम् ।

ब्रव्यसङ्ग्रहग्रन्थाणां वृत्तिं वक्ष्ये समासतः ॥ २ ॥ पुष्पम् ॥

भाषार्थः—सिद्ध, त्रैलोक्यमे वन्दित, स्वभावसे उत्पन्न ओ ज्ञान और गुण है उक्त स्व-
रूप, कर्ममलसे रहित तथा अविनाशी ऐसे परमात्माको, (सिद्ध परमेश्वरीको), और शुद्ध-
जीव आदि ब्रह्मभूतोंका उपदेश देनेवाले श्रीजिनेन्द्रभगवानको प्रणाम करके मैं (ब्रह्मदेव)
ब्रह्मसंग्रहनामक शास्त्रके तत्त्वोंकी वृत्ति (टीका) को संक्षेपसे बढाया ॥ १ । २ ॥

अथ माह्वन्देष्टे धारणागमनगराभिपतिराजभोजदेवाभिधानकलिकाष्टचक्रवर्तिगणेशविभनः
भीषाष्टमण्डलेधरस्य शम्भुविम्बाभमनामनगरे भीषुनिगुप्ततीर्थेवराचेशालये हुडा-
रामहृदयसंवितागुप्तप्रगुप्तायुतगमायाद्विपरीतनारकादिदुःखभयभीतस्य परमात्मभावको-
त्पन्नगुप्तगुप्ताधारस्यपिपासितस्य भेदाभेदरत्नप्रयभावन्याश्रितस्य अरयचरपुण्डरीकस्य आनन्दानन्द-
राजनेशनियोत्तापिषारिद्योमाभिधानराजभेष्टिनो निमित्तं भीर्नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवे पूर्व बह्म-
तिगाथाभिलषुब्रह्मसङ्ग्रहं कृत्वा पञ्चाङ्गिषोचतस्रपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्ब्रह्मसङ्ग्रहस्य
पिषारदुष्टिपूर्ववचनं वृत्तिं आरभ्यते ।

अब मैं (श्रीगणेश) मास्वा नामक देवमें धारा मानक नगरमें स्थानी गङ्गा को जदेवनामक कनिकाञ्चनकर्णों संवन्धी जो श्रीपान्ध मंडनेश्वर थे, उनमेंसे प्रथम नाम नगरमें श्रीमुनिमुनि तीर्थकरके चैत्यालयमें शुद्ध पेगा जो आन्मार्ग द्रव्य है, उन ज्ञानमें उत्पन्न पेगा जो सुस्वरूपी अमृतम, उगते आस्वाद से विरहीन मेंमें जो नष्टने आदि संबंधी दुःख हैं, उनके भयमें डरा हुआ, परमात्माही भानगने उत्पन्न मुक्त अमृततरसका पानकरनेको (पीनेको) इच्छा रमनेवाला, भेद अभेद रत्नत्रय अर्थात् ब्रह्मा और निश्चय इन दो भेदोंका धारक जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र्य रत्नत्रय है उसकी भावना है प्यारी जिगके, मन्त्रजननिरोमणी तथा मांडागार (सज्जन) आदि अनेक नियोगोंका (कामोंका) स्वामी ऐसा जो श्रीसोमनामक राजप्रेष्ठी (राजा) श्रेष्ठ था उसके निमित्त श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवने पहिले छब्बीस २६ गायामंत्रों के शुद्धव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ रचकर तत्पश्चात् विशेषतत्त्वोंके जाननेके लिये जो बृहद्रव्यसंग्रह नामक शास्त्र निर्मित किया उस बृहद्रव्यसंग्रहग्रंथकी अधिकारशुद्धिपूर्वकतासे अर्थात् पहिले अधिकारोंकी छांट करके तत्पश्चात् वृत्तिको अर्थात् व्याख्या (विशेषवर्णन) को प्रारंभ करता है ।

तत्रादौ “जीवमजीवं द्रव्यं” इत्यादिसप्तविंशतिगाथापर्यन्तं बृहद्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमोऽधिकारः । तदनन्तरं “आसवबंधण” इत्याद्येकादशगाथापर्यन्तं सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादनमुख्यतया द्वितीयो महाधिकारः । ततःपरं “सम्मदंसणणां” इत्यादिविंशतिगाथापर्यन्तं मोक्षमार्गकथनमुख्यत्वेन तृतीयोऽधिकारश्च । इत्यष्टाधिकपञ्चाशद्गाथाभिरधिकारत्रयं श्राव्यम् ॥

उस बृहद्रव्यसंग्रहनामक शास्त्रमें प्रथम ही “जीवमजीवं द्रव्यं” इस गाथाको आदिमें लेकर “जावदियं आयासं” इस सत्ताईसवीं गाथापर्यन्त जीव १ पुद्गल २ धर्म ३ अधर्म ४ आकाश ५ और काल ६ इन छहों द्रव्योंका तथा जीव १ पुद्गल २ धर्म ३ अधर्म ४ और आकाश ५ इन पांचों अस्तिकार्योंका निरूपण करनेवाला बृहद्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादक नामा प्रथम अधिकार है । इसके पश्चात् “आसवबंधणसंवर” इस गाथाको आदिमें लेकर “सुहअसुहभावजुत्ता” इस अड़तीसवीं गाथापर्यन्त जीव १ अजीव २ आसव ३ बंध ४ संवर ५ निर्जेरा ६ और मोक्ष ७, इन सातों तत्त्वोंका और जीव १ अजीव २ आसव ३ बंध ४ संवर ५ निर्जेरा ६ मोक्ष ७ पुण्य ८ और पाप ९, इन नवों पदार्थोंका मुख्यतासे कथन करनेवाला सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादक नामा द्वितीय महा अधिकार है । इसके अनन्तर “सम्मदंसणणां” इस गाथासूत्रको आदिमें लेकर बीस २० गाथाओंपर्यन्त मुख्य-

१ प्रथम और द्वितीय अधिकारके मध्यमें “परिणामिजीवमुत्तं” इत्यादि दो गाथाओंसे प्रथम अधिकारकी च्युटिका भी है ।

तासे मोक्षमार्गका कथन करनेवाला मोक्षमार्गप्रतिपादक नामा तृतीय अधिकार है । इस प्रकार अष्टावन गाथाओंसे तीन अधिकार जानने चाहियें ।

तत्राप्यादौ प्रथमाधिकारे चतुर्दशगाथापर्यन्तं जीवद्रव्यव्याख्यानम् । ततः परं “अजीवो पुन जेओ” इत्यादिगाथाएकपर्यन्तमजीवद्रव्यकथनम् । ततः परं “एवं छम्मेयमिदं” एवं सूत्रपञ्चकपर्यन्तं पञ्चास्तिकायविवरणम् । इति प्रथमाधिकारमध्येऽन्तराधिकारप्रथमवचने द्रव्यम् ॥

उन तीनों अधिकारोंमें भी आदिका जो प्रथम अधिकार है उसमें चौदह १४ गाथाओंपर्यन्त जीवद्रव्यका व्याख्यान करनेवाला जीवद्रव्यप्रतिपादक नामा प्रथम अन्तराधिकार है । इसके अनन्तर “अजीवो पुन जेओ” इस गाथाको आदिमें लेकर “णिक्कम्मा अट्टगुणा” इस गाथापर्यन्त आठ गाथाओंसे अजीवद्रव्यका वर्णन करनेवाला अजीवद्रव्यप्रतिपादक नामा द्वितीय अन्तराधिकार है । तत्पश्चात् “एवं छम्मेयमिदं” इसको आदिमें लेकर “जावदियं आयासं” इस गाथापर्यन्त पाँच सूत्रोंमें पाँचों अस्तिकायोंका निरूपण करनेवाला पञ्चास्तिकायप्रतिपादक नामा तृतीय अन्तराधिकार है । इस प्रकार प्रथम अधिकारमें तीन अन्तराधिकार समझने चाहियें ।

तत्रापि चतुर्दशगाथासु मध्ये नमस्कारसूत्रव्यतिरेक प्रथमगाथा । जीवादिनवाऽपि वारसूचनरूपेण “जीवो ज्वभोगमओ” इत्यादिद्वितीयसूत्रगाथा । तदनन्तरं नवाधिकारविवरणरूपेण द्वादशसूत्राणि भवन्ति । तत्राप्यादौ जीवसिद्धयर्थं “विकाले चटुपाणा” इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, तदनन्तरं ज्ञानदर्शनोपयोगद्रव्यकथनार्थं “ज्वभोगो दुवियप्पो” इत्यादिगाथात्रयम्, ततः परममूर्च्छस्वकथनेन “वण्णरसपंच” इत्यादिसूत्रमेकम्, ततोऽपि कर्मकर्तृत्वप्रतिपादनरूपेण “पुग्गलक्कम्मादीणं” इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, तदनन्तरं भोगस्वन्निरूपणार्थं “ववहारा सुहटुक्कं” इत्यादिसूत्रमेकम्, ततः परं स्वदेहप्रमितिमिद्वयार्थं “अणु सुदवेहपमाणो” इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, ततोऽपि संसारिजीवस्वरूपकथनेन “पुट्ठविजलत्तज्ज्वाभो” इत्यादिगाथात्रयम्, तदनन्तरं “णिक्कम्मा अट्टगुणा” इतिप्रभृतिगाथापूर्वाधेन सिद्धस्वरूपकथनम्, उत्तरार्धेन पुनरुद्भूतगतिस्वभावः । इति नमस्कारादिचतुर्दशगाथामेवापनेन प्रथमाधिकारे समुदायपातनिका ।

अथ प्रथम अधिकारके प्रथम अन्तराधिकारमें जो चौदह गाथा हैं उनमें नमस्कारकी सुख्यतासे प्रथम गाथा है । जीव आदि नव ९ अधिकारोंके सूचनरूपसे “जीवो ज्वभोगमओ” इत्यादि रूप द्वितीयसूत्रगाथा है । इसके अनन्तर नौ ९ अधिकारोंका विशेषवर्णन करने रूपसे बारह १२ सूत्र हैं । उन १२ सूत्रोंमें भी प्रथम ही जीवकी सिद्धिके लिये “विहाटे चटुपाणा” इत्यादि एक सूत्र है । इसके पश्चात् ज्ञान और दर्शन इन दोनों उपयोगोंका कथन करनेके लिये “ज्वभोगो दुवियप्पो” इत्यादि तीन गाथामुत्र है । इसके अनन्तर अमूर्च्छताका कथन करनेरूपसे “वण्णरसपंचगेधा” इत्यादि एक गाथामुत्र है । तत्पश्चात् जीवके कर्मकर्तृताका प्रतिपादन करनेरूपसे “पुग्गलक्कम्मादीणं” इत्यादि एक

गायामूत्र है। इसके अनन्तर जीवके कर्मफलका मोक्षापनेका कथन करते हैं।
 “अणुगुरुदेहपमाणो” इत्यादि एक गायामूत्र है। और इसके अनन्तर संमर्द्धित
 स्वरूपका कथन करनेरूपसे “पुनश्चिन्नलतेज्वाओ” इत्यादि तीन गायामूत्र हैं।
 पश्चात् “शिकम्मा अट्टगुणा” इत्यादि गाथाके पूर्वार्धसे जीवके सिद्धस्वरूपका कथन
 गया है; और उत्तरार्धसे जीवके ऊर्ध्वगमनस्वभावका वर्णन किया गया है।
 प्रकार नमस्कारगाथाको आदि लेकर जो चौदह गायामूत्र हैं, उनका मेल
 अधिकारमें समुदायपातनिका है ॥

अथेदानीं गाथापूर्वार्धेन सम्बन्धाऽभिधेयप्रयोजनानि कथयाम्युत्तरार्धेन च वा
 र्धमिष्टदेवतानमस्कारं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति।
 अब गाथाके पूर्वार्धसे संबन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजनका कथन करता हूँ, और
 थाके उत्तरार्धसे मंगलके लिये इष्टदेवताको नमस्कार करता हूँ, इस अभिप्रायको
 मैं धारण करके भगवान् श्रीनेमिचन्द्रस्वामी इस प्रथमसूत्रका प्रतिपादन करते हैं।

मार्था । जीवमजीवं द्रव्यं जिणयरवसहेण जेण णिदिट्ठं ।

देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्यदा सिरसा ॥ १ ॥

गाथाभावार्थः—मैं (श्रीनेमिचन्द्र) जिस जिनवरोंमें प्रधानने जीव और
 द्रव्यका कथन किया, उस देवेन्द्रादिकोंके समूहसे वंदित तीर्थकर परमदेवको सदा
 नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

व्याख्या—‘वन्दे’ इत्यादिक्रियाकारकसम्बन्धेन पदस्वरूपानुरूपेण व्याख्यातं क्रियते
 एकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्मापानलक्षणभासस्वबनेन, असङ्गतव्यवहारनयेन च
 पादकवचनरूपद्रव्यस्वबनेन च ‘वन्दे’ नमस्करोमि। परमशुद्धनिश्चयनयेन पुनर्वन्द्यव
 भावी नास्ति। स कः कर्ता, अहं नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवः। कथं वन्दे? “सव्यदा” स
 लम्। केन? “सिरसा” उत्तमाङ्गेन। “तं” कर्मतापन्नं वीतरागसर्वज्ञम्। तं किंकिं
 ‘देविंदविंदवंदं’ मोक्षपदाभिलाषिदेवेन्द्रादिवन्द्यम्, “भवणालयपालीसा वितरदेवाण
 षत्तीसा। कप्पामरचउवीसा चंदो सूरु जरो तिरिओ ॥ १ ॥” इति गाथाकथितल
 श्रवणां शक्तेन वन्दितं देवेन्द्रपुन्द्रवन्द्यम्। “जेण” येन भगवता किं कृतं? “णिदिट्ठं”
 दिष्टं कथितं प्रतिपादितम्। किं “जीवमजीवं द्रव्यं” जीवाजीवद्रव्यद्वयम्। तथा, च
 शब्दप्रेमन्यायिलक्षणं जीवद्रव्यं, तद्विलक्षणं पुद्गलादिपञ्चभेदमजीवद्रव्यं च, तथैव चिन्तनम

परमविद्योतिःस्वरूपशुद्धजीवादिसमस्तस्व

स्वरूपमुपदिष्टम्। पुनरपि कथम्भूतेन भगवता? “जि

एकदेशजिनाः असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयस्तेषां वराः गण

जिनवरवृषभस्तीर्थकरपरमदेवस्तेन जिनवर वृषभेर्वा

दिपदोका क्रियाकारकमावसंबन्धसे पदसंज्ञारूपमेव

किया जाता है। “वन्दे” एकदेशमें शुद्ध ऐसा

निश्चयनय है उसकी अपेक्षासे तो निज-शुद्ध आत्माका आराधन करनेवाले भावसाधनसे और अतद्रूपव्यवहारनयकी अपेक्षासे उस निज-शुद्ध-आत्माका प्रतिपादन करनेवाले वचनरूप द्रव्यमननसे नमस्कार करता हूँ । और परमशुद्धनिश्चयनयसे वन्दनवन्दक भाव नहीं है अर्थात् एकदेशशुद्धनिश्चयनय और असद्रूपव्यवहारनयकी अपेक्षासे ही श्रीजिनेन्द्र वन्दना करनेयोग्य हैं और मैं वन्दना करनेवाला हूँ । और परमशुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षासे वन्दनवन्दक भाव नहीं है । क्योंकि श्रीजिनेन्द्र और मैं इन दोनोंका आत्मा समान ही है । यह नमस्कार करनेवाला कौन है ? मैं द्रव्यसंग्रहमन्त्रका कर्त्ता श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेव हूँ । कब और कैसे नमस्कार करता हूँ ? “सन्वदा” सब कालमें “शिरसा” उत्तम अंग जो मस्तक है उससे नमस्कार करता हूँ । किसको नमस्कार करता हूँ ? “तै” वन्दन कियाफे कर्मपनेको मात हुए धीयीतरागसर्वरुको (श्रीजिनेन्द्रको) कैसे श्रीजिनेन्द्रको ? “देविद-विदबंद” मोक्षपदको चाहनेवाले जो देवेन्द्रादि है उनसे वन्दितको अर्थात् “भवनवासि-योके ४० इन्द्र, व्यन्तरदेवोंके ३२ इन्द्र, कल्पवासीदेवोंके २४ इन्द्र, ज्योतिष्कदेवोंके चन्द्र और सूर्य ये २ इन्द्र, मनुष्योंका १ इन्द्र (चक्रवर्त्ती) और तिर्यगोक्ता १ इन्द्र (सिंहविशेष) ऐसे सब मिलकर सौ १०० इन्द्र हैं । १ ।” इस गायामें कहे हुए लक्षणके धारक सौ १०० इन्द्रोंसे वन्दितको । जिस भगवान् ने क्या किया है ? “गिदिट्ट” कहा है । किसको कहा है ? “जीवमजीव दन्व” जीव और अजीव इस द्रव्यद्वयको कहा है । अर्थात् सहज-शुद्ध चैतन्य आदि लक्षणका धारक जीव द्रव्य है, और इससे विलक्षण (भिन्न लक्षणका धारक) पुद्गल १ धर्म २ अधर्म ३ आकाश ४ और काल ५ इन पांच भेदोंका धारक अजीव द्रव्य है । तथा इसीप्रकार चित्-चमत्काररूप लक्षणका धारक जो शुद्ध जीव अस्तिकाय है, उसको आदिमें लेकर पांच अस्तिकायोंका, परमज्ञानरूप ज्योतिका धारक जो शुद्ध जीवतत्त्व है, उसको आदिमें लेकर सात तत्त्वोंका, और दोपरदित जो परमात्मा (जीव) है, उसको आदि लेकर नौ ९, पदार्थोंका स्वरूप कहा है । फिर कैसे भगवान् ने कहा है कि—“जिनवरवसहेण” मिथ्यात्व और राग आदिको जीतनेसे असंयतसम्यग्दृष्टी आदिक एकदेशी जिन हैं, उनमें जो वर (श्रेष्ठ) हैं वे जिनवर अर्थात् गणधरदेव हैं, उन जिनवरों (गणवरों) में भी जो प्रधान हों, वे जिनवरवृषभ अर्थात् तीर्थकरपरमदेव हैं उनसे कहा है ।

अत्राभ्यात्मशास्त्रे यद्यपि सिद्धपरमेष्ठिनमस्कार उचितस्तथापि व्यवहारनयमाधित्य प्रत्युपकारस्मरणार्थमर्हत्परमेष्ठिनमस्कार एव कृतः । तथाचोक्तं—“श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रमादात्परमेष्ठिनः । इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः ॥ १ ॥” अत्र गायोपराद्धेन—“नाम्निकत्वपरीहारः शिष्टाचारप्रपालनम् । पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नः शास्त्रादौ सेन संस्तुतिः ॥ २ ॥” इति श्लोककथितफलधनुष्यं समीक्षमाणा प्रत्येकाराः शास्त्रादौ त्रिधा देवतार्थे त्रिधा नमस्कारं कुर्वन्ति । इत्यादिमङ्गलठ्याख्यानां सूचितम् । मङ्गलमित्युपलक्षणम् । वक्तं ५—“मंगलनि-

सूत्ररूप द्रव्यसंमह ग्रन्थ है वह व्याख्येय (व्याख्या करने योग्य) है । इस प्रकार व्याख्यानव्याख्येयरूप तो सम्बन्ध जानना चाहिये । और जो व्याख्या करने योग्य द्रव्यसंमहका सूत्र कहा गया है वही अभिधान अर्थात् वाचक (कहनेवाला) कहलाता है । और अनन्तज्ञान आदि अनन्तगुणोंका आधार (धारक) जो परमात्मा आदिका स्वभाव है वह अभिधेय है अर्थात् कथनकरनेयोग्य विषय है । इस प्रकार अभिधानाभिधेयका स्वरूप जानना चाहिये । व्यवहारनयकी अपेक्षासे 'बृहद्रथ आदिका जानना' यह इस ग्रन्थका प्रयोजन है । और निश्चयनयसे अपने निर्लेप शुद्ध आत्माके ज्ञानसे उत्पन्न जो विकाररहित परमआनंदरूप लक्षणका धारक मुक्त है, उस मुक्तरूपी अमृतरसका आस्वादन करनेरूप जो निज आत्माके जाननेरूप ज्ञान है, वह इस ग्रन्थका प्रयोजन है । और परमनिश्चयसे उस आत्मज्ञानके फलरूप-केवलज्ञानआदि अनन्तगुणोंके विना न होनेवाली और निज आत्मारूप उपादान कारणसे सिद्ध होनेवाली ऐसी जो अनन्तमुक्तकी प्राप्ति है, वह हम द्रव्यसंमह ग्रन्थका प्रयोजन है । इस प्रकार ग्रन्थ जो नमस्कार गाथा है, उसका व्याख्यान किया गया ॥ १ ॥

अथ नमस्कारगाथायां प्रथमं यदुक्तं जीवद्रव्यं तत्सम्बन्धे नवाधिकारात् संक्षेपेण सूचयामीति अभिप्रायं मनसि सम्प्रधायं कथनसूत्रमिति निरूपयति ।

अब मैं नमस्कारगाथामें जो पहिले जीवद्रव्यका कथन किया गया है, उस जीवद्रव्यके संबंधमें नौ अधिकारोंको संक्षेपसे सूचित करता हूं । इस अभिप्रायको मनमें धारण करके अचार्य जीव आदि नौ अधिकारोंको कहनेवाले इस अग्रिम सूत्रका निरूपण करते हैं ॥

जीवो ऽवभोगमओ अमुत्ति कप्ता सदेहपरिमाणो ।

भोक्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्तसोड्ढुगई ॥ २ ॥

गाथाभावार्थः—जो उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्त्ता है, निज शरीरके बराबर है, भोक्ता है, संसारमें स्थित है, सिद्ध है और स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाला है, वह जीव है ॥ २ ॥

व्याख्या । "जीवो" शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्तवर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरुपाधिगुणैश्चैतन्यलक्षणनिश्चयप्राप्तेन यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेनानादिकर्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राप्तौजीवतीति जीवः । "अवभोगमओ" शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनोपयोगमयस्तथाप्यशुद्धनयेन क्षायोपशमिकज्ञानदर्शननिवृत्तत्वात् ज्ञानदर्शनोपयोगमयो भवति । "अमुत्ति", यद्यपि व्यवहारेण मूर्तकर्मधीनत्वेन स्पर्शरसगन्धवर्णवस्मा मूर्त्या सहितत्वान्मूर्त्तस्तथापि परमार्थेनामूर्त्तातीन्द्रियशुद्धबुद्धैकस्वभावत्वादमूर्त्तः । "कप्ता" यद्यपि भूतार्थनयेन निष्क्रियदृष्टोरक्षीर्णक्षायकैकस्वभावोऽयं जीवस्तथाप्यभूतार्थनयेन मनोवचनकायव्यापारोत्पादककर्मसहितत्वेन शुभाशुभकर्मकर्तृत्वान् कर्त्ता । "सदेहपरिमाणो" यद्यपि निश्चयेन सहजशुद्धलोकाकाशप्रमिततासह्यवयवप्रदेशस्तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धाधीनत्वेन शरीरनामकमोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वान् पटादिभाजनस्यप्रदीपवन् स्वदेहपरिमाणः ।

हैं और अपनी आत्मा में उत्पन्न जो सुखरूपी अमृत है उसका भोगनेवाला है तथापि अशु-
द्धनयसे उत्तमप्रकारके गुरुरूप अमृतभोजनके अभावसे शुभकर्मसे उत्पन्न सुख और अशुभ-
कर्मसे उत्पन्न जो दुःख हैं उनका भोगनेवाला होनेके कारण भोक्ता है । “संसारस्थ”
संसारमें स्थित है अर्थात् संसारी है । यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनयसे संसाररहित है और
नित्य आनंदरूप एक स्वभावका धारक है तथापि अशुद्धनयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और
भाव इन भेदोंसे पांचप्रकारके संसारमें रहता है इसकारण संसारस्थ है । “सिद्धो” सिद्ध
है । यद्यपि यह जीव व्यवहारनयसे निज आत्माकी प्राप्ति स्वरूप जो सिद्धत्व है उसके
प्रतिपक्षी कर्मोंके उदयसे असिद्ध है तथापि निश्चयनयसे अनन्त ज्ञान और अनन्त गुण स्व-
भावका धारक होनेसे सिद्ध है । “सो” वह (इन पहले कहे हुए गुणोंका धारक जीव)
“विस्तसोद्गर्ह” स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाला है । यद्यपि व्यवहारसे चार गतियोंको
उत्पन्न करनेवाले कर्मोंके उदयके वशसे ऊँचा, नीचा तथा तिरछा गमन करनेवाला है
तथापि निश्चयमे केवल ज्ञान आदि अनंत गुणोंकी प्राप्ति स्वरूप जो मोक्ष है उसमें जानेके
समय स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाला है । यहां पर पदसंज्ञा रूपसे (संज्ञान्ययकी रीतिसे)
शब्दका अर्थ कहा और शुद्ध तथा अशुद्ध इन दोनों नयोंके विभागसे नयका अर्थ भी
कहा है । अब मतका अर्थ कहते हैं । चार्वाकके प्रति जीवकी सिद्धि की गई है, नैयायिकके
प्रति जीवका ज्ञान तथा दर्शन उपयोगमय लक्षण है यह कथन है, भट्ट तथा चार्वाकके
प्रति जीवका अमृत स्थापन है, सांख्यके प्रति आत्मा कर्मका कर्ता है ऐसा व्याख्यान है,
आत्मा अपने शरीर प्रमाण है यह स्थापन नैयायिक, मीमांसक और सांख्य इन तीनोंके
प्रति है, आत्मा कर्मोंका भोक्ता है यह कथन बौद्धके प्रति है, आत्मा संसारस्थ है ऐसा
व्याख्यान सदाशिवके प्रति है, आत्मा सिद्ध है यह कथन भट्ट और चार्वाकके प्रति है,
जीवका ऊर्ध्वगमन करना स्वभाव है यह कथन इन सब मतोंके ग्रंथकारोंके प्रति है । ऐसा
मतका अर्थ जानना चाहिये । और अनादिकालसे कर्मोंसे बंधा हुआ आत्मा है इत्यादि
आगमका अर्थ तो प्रसिद्धही है । शुद्धनयके आश्रित जो जीवका स्वरूप है वह तो उपा-
देय (ग्रहण करने योग्य) है और बाकी सब हेय है । इस प्रकार हेयोपादेयरूपसे भावार्थ
भी समझना चाहिये । ऐसे शब्दनयके मतसे आगमका भावार्थ यथासंभव व्याख्यानके
समयमें सब जगह जानना चाहिये । इस प्रकार जीव आदि नव अधिकारोंको सूचन करने-
वाली गाथा समाप्त हुई ॥ २ ॥

अतः परं द्वादशगाथाभिर्नवाधिकारान् विवृणोति, एतादौ जीवस्वरूपं कथयति ।

अब इसके आगे द्वादश १२ गाथाओंसे नव अधिकारोंका विवरण करते हैं, उनमें
प्रथम ही जीवका स्वरूप कहते हैं ।

माना गया है । “ इस प्रकार ” वैच्छ रसस्य भवसारिच्छसंगागिरयः पियराय । चुल्लय हंति-
यपुणमडउ नव दिट्ठता जाय १ ” इस दोहेमें कहे हुए नव दृष्टान्तोंद्वारा चार्वाकमतानुयायी
शिष्योंको समझानेके लिये जीवकी मिद्धिके व्याख्यानमें यह गाथा समाप्त हुई ॥ ३ ॥

अथ गाथाप्रत्ययन्तं ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयं कथ्यते । तत्र प्रथमगाथायां मुख्यवृत्त्या
दर्शनोपयोगव्याख्यानं करोति । यत्र मुख्यत्वमिति वदति तत्र यथामभवमन्यदपि विवक्षिते
लभ्यत इति ज्ञातव्यम् ।

अथ तीन गाथापर्यन्तं ज्ञान तथा दर्शनरूप दो उपयोगोंका वर्णन करने हैं । उनमें भी
प्रथम गाथामें मुख्यतामें दर्शनोपयोगका व्याख्यान करने हैं । जहांपर यह कथन हो कि अ-
नुक विषयका मुख्यता (प्रधानता) में वर्णन करने हैं, वहांपर गीतनामें अन्य विषयका भी
यथासंभव कथन मिलेगा यह जानना चाहिये ।

उद्योगो दुषिषप्पो दंसणणाणं च दंसणं चतुधा ।

अपरखु अचपरखु ओही दंसणमय केयलं णेयं ॥ ४ ॥

गाथार्थः—दर्शन और ज्ञान इन दोनोंमें उपयोग दो प्रकारका है । उनमें चतुर्दर्शन,
अचतुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इन भेदोंमें दर्शनोपयोग चार प्रकारका जा-
नना चाहिये ॥ ४ ॥

व्याख्या—“उद्योगो दुषिषप्पो” उपयोगो द्विविकल्पः “दंसणणाणं च” निर्विकल्पकं दर्शनं
शायिकल्पकं ज्ञानं, चतुर्धा “दंसणं चतुधा” दर्शनं चतुर्धा भवति “अपरखु अचपरखु ओही दंसणमय
केवलं णेयं” अचतुर्दर्शनमचतुर्दर्शनमवधिदर्शनमथ केवलदर्शनमिति विक्षेपम् । तस्मात् —
आत्मा हि जगत्प्रकृत्यलप्रवर्तितममलवस्तुगामान्यमाहसकलविमलकेवलदर्शनमवभावाव-
पभादानादिकर्मवन्धाधीनः सन् चतुर्दर्शनावरणक्षयोपशमात्तद्विरहद्वयेन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तं
सत्तासामान्यं निर्विकल्पं शब्दप्रवहारेण प्रत्यक्षमपि निश्चयेन परोक्षरूपेणैकदर्शनं प्राप्तयति
तच्चतुर्दर्शनम् । तथैव स्वर्गनरसनप्राणभोजेन्द्रियावरणक्षयोपशमात्तद्विरहद्वयेन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तं
द्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तं जलासामान्यं विकल्परहितं परोक्षरूपेणैकदर्शनं प्राप्तयति तद-
चतुर्दर्शनम् । तथैव च मनस्त्रिधावरणक्षयोपशमात्तद्विरहद्वयेन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तं
व्यमनोऽवलम्बनाच्च मूर्तमूर्तसमलवस्तुगमसत्तासामान्यं विकल्परहितं परोक्षरूपेण व्य-
पयति तन्मानसमचतुर्दर्शनम् । स एवास्मात् सद्विधिदर्शनावरणक्षयोपशमात्सुखानुगत-
सत्तासामान्यं निर्विकल्परूपेणैकदर्शनाप्रत्यक्षेण प्राप्तयति तद्विधिदर्शनम् । परंतुः सारव-
त्तगदानन्दैकरूपपरमात्मतत्त्वमितिप्राप्तिबलेन केवलदर्शनावरणक्षये सति मूर्तमूर्तस-
मलवस्तुगमसत्तासामान्यं विकल्परहितं सारवत्प्रत्यक्षरूपेणैकसमये प्राप्तयति तदुपदेशभूतं
शायिकं केवलदर्शनं ज्ञातव्यमिति ।

व्याख्याार्थः—दर्शन और ज्ञान इन दोनोंमें उपयोग दो प्रकारका है । उनमें दर्शन दो

भवति, "पञ्चकरोपरोक्षमेवं च" प्रत्यक्षपरोक्षभेदं च अवधिमनःपर्ययद्वयमेकदेशप्रत्यक्षं, विम-
द्भावधिरपि देशप्रत्यक्षं, केवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षं शेषचतुष्टयं परोक्षमिति । इतो विस्तारः—आ-
त्मा हि निश्चयनयेन सकलविमलारण्यैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयकेवलज्ञानरूपस्तावन् । स च व्यव-
हारेणानादिकर्मयन्धप्रच्छादितः सन्मतिज्ञानावरणीयक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च
यद्विरूपध्वेन्द्रियमनोऽवलम्बनाच्च भूतान्मूर्तं वस्तुवेकदेशेन विकल्पाकारेण परोक्षरूपेण सांध्य-
वहारिकप्रत्यक्षरूपेण वा यज्ज्ञानाति सत्क्षयोपशमिकं मतिज्ञानम् । किञ्च छद्मव्यानां वीर्या-
न्तरायक्षयोपशमः केवलज्ञानं निरवशेषप्रत्यक्षज्ञानं चारित्रानुत्पत्तौ महकारी सर्वत्र ज्ञातव्यः ।
संध्यवहारलक्षणं कथ्यते—समीचीनो व्यवहारः मध्यवहारः । प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणः मं-
ध्यवहारो भण्यते । संध्यवहारे भवं सांध्यवहारिकं प्रत्यक्षम् । यथा पटरूपमिदं मया दृष्टमि-
त्यादि । तथैव धुनज्ञानावरणक्षयोपशमाजोद्भिन्त्यावलम्बनाच्च प्रकाशोपाध्यायादिविरूप-
सहकारिकारणाच्च भूतान्मूर्तवस्तुलोकालोकद्वयातिज्ञानरूपेण यद्विरूपं जानाति तत्परोक्षं धुन-
ज्ञानं भण्यते । किञ्च विमेषः—क्षप्रात्मकं धुनज्ञानं परोक्षमेव तावन्, व्यगोपवर्गादिविरु-
पिदयपरिच्छित्तिपरिज्ञानं विकल्परूपं तदपि परोक्षं, यत्पुनरव्यवहारे सुगन्दुःशविषरूपयो-
ऽहमनन्तज्ञानादिरूपोऽहमिति वा तदीयपरोक्षम्, यच्च निश्चयभावधुनज्ञानं तच्च शुद्धात्मा-
भिगुणसुगणसंवितित्यरूपं स्वसंविद्याकारेण सविकल्पमपीन्द्रियमनोजनितागादिविकल्पजा-
लरहितत्वेन निर्विकल्पम्, अभेदनेयेन तदेवातश्चक्षुष्यं वीर्यातसम्यक्चारित्राविनाभूतं के-
वलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि सम्भारिणां ध्यायिकज्ञानाभावात् आद्योपशमिकमपि प्रत्यक्षमपि
धीयते । अत्राह शिष्यः—आरो परोक्षमिति तत्त्वार्थगूत्रं मतिधुनद्वयं परोक्षं भणितं निवृत्ति
कथं प्रत्यक्षं भवतीति । परिहारमाह—तदुरसर्गव्याख्यातम्, इदं पुनरपवादव्याख्यातं, यदि
तदुत्सर्गव्याख्यातं न भवति तर्हि मतिज्ञानं कथं तत्त्वार्थं परोक्षं भणितं निवृत्ति । तत्त्वज्ञाने
स्तत्त्ववहार्तिकं प्रत्यक्षं कथं ज्ञानं । यथा अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्ष-
ज्ञानं तथा स्वात्माभिगुणं भावधुनज्ञानमपि परोक्षं तदव्यक्तं भण्यते । यदि पुनरेवातं न
परोक्षं भवति तर्हि सुगन्दुःशविषादिवेदनमपि परोक्षं प्राप्नोति न च तथा । तथैव च ज्ञा-
तृवात्मा अवधिज्ञानावरणीयक्षयोपशमाज्मूर्तं वस्तु वेदकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति
तदवधिज्ञानम् । यत्पुनर्मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च स्ववी-
र्यमनोऽवलम्बनेन परवीर्यमनोगतं मूर्तमर्थमेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदिदं
मतिज्ञानपूर्वकं मनःपर्ययज्ञानम् । तथैव निश्चयज्ञानतत्त्वसम्यक्वेदज्ञानज्ञानानुपायनार्थ-
काप्रव्यानेन केवलज्ञानावरणादिपातिचतुष्टयधये सति चरातगुणत्वेन तदेव समलङ्घ्यते-
प्रकाशभावाद्दर्शनं सर्वप्रकाशोपादेयभूतं केवलज्ञानमिति ।

उपाध्यायः—“जाणं अट्टवियप्यं” ज्ञान आठ प्रकारका है। “अट्टविधोऽपि अजाणजाणाणि” उन आठ प्रकारके भेदोंके मध्यमें मति, सुत्त तथा अवधि ये तीन विधा-
रके उदयके वरगमें विपरीत अभिनिवेशरूप अज्ञान होने है (हस्तिने बुद्धिनि, बुद्धि तथा
बुद्धवधि [विभंगावधि]) ये इनके नाम हैं तथा वेही मति, सुत्त तथा अवधि ज्ञान कुछ
आत्मा आदि मनुष्यके विषयमें विपरीत अभिनिवेशके अभावके कारण सम्मोहदि आदि के मध्य

ज्ञान हो जाते हैं (इस रीतिसे मति आदि तीन अज्ञान और तीन ज्ञान उदयनना होनेसे ज्ञानके ६ भेद हुए) तथा “मणपञ्चवक्त्रवलयमणि” मनःपर्यय और केवलज्ञ ये दोनों मिलके ज्ञानके आठ भेद हुए । “पञ्चवक्त्रपरोक्षं च” इस आठोंमें सती और मनःपर्यय ये दोनों तथा विभंगावधि तो देशप्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान मन्त्र प्र हैं, शेष (बाकीके) कुमति, कुश्रुत, मति और श्रुत ये चार परोक्ष हैं । अब यहाँमि रपूर्वक वर्णन करते हैं । जैसे—आत्मा निश्चयनयसे संपूर्णरूपसे विमल तथा अचट एक प्रत्यक्षज्ञानस्वरूप केवलज्ञान है उस ज्ञानस्वरूप है और वही आत्मा व्यवहार अनादिकालके कर्मबंधसे आच्छादित होकर, मतिज्ञानके आचरणके क्षयोपशमसे तथा रन्तरायके क्षयोपशमसे और बहिरंग पांच इन्द्रिय तथा मनके अवलम्बनसे मूर्त अमूर्तवस्तुको एक देशसे विकल्पाकार परोक्षरूपसे अथवा सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष जो जानता है वह क्षयोपशमिक मतिज्ञान है । अब यहाँपर विशेष यह जानना च कि छद्मस्थोके तो वीर्यान्तरायका क्षयोपशम सर्वत्र ज्ञान चारित्र आदिकी उत्प सहकारी कारण है और केवलियोंके वीर्यान्तरायका सर्वथा क्षय जो है वह चारित्र आदिकी उत्पत्तिमें सर्वत्र सहकारी कारण है । अब सांख्यवहारिक प्रत्यक्षका लिलते हैं—समीचीन अर्थात् मवृत्ति और निवृत्तिरूप जो व्यवहार है वह संख्यवहार क है, संख्यवहारमें जो हो सो सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है; जैसे—यह घटका रूप मैंने इत्यादि । ऐसेही श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे और नोइन्द्रियके अवलम्बसे म और अध्यापक आदि सहकारी कारणके संयोगसे मूर्त तथा अमूर्त वस्तुको लोक अलोककी व्याप्तिरूप ज्ञानसे जो अस्पष्ट जानता है उसको परोक्ष श्रुतज्ञान कहते हैं इसमें भी विशेष यह है कि शब्दात्मक (शब्दरूप) जो श्रुतज्ञान है वह तो परोक्ष तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि भाषा विषयमें बोध करानेवाला विकल्परूप जो ज्ञान है वह परोक्ष है और जो आभ्यन्तरमें मुख दुःख विकल्परूप है अथवा मैं अनन्त ज्ञान आवि है इत्यादि ज्ञान है वह ईषत् (किञ्चित्) परोक्ष है तथा जो भावश्रुत ज्ञान है वह आत्माके अभिमुख (सन्मुख) होनेसे सुखसंविधि (ज्ञान) स्वरूप है और वह आत्मज्ञानके आकारसे सविकल्प है तो भी इन्द्रिय तथा मनसे उत्पन्न जो विकल्प है उनसे रहित होनेके कारण निर्विकल्प है और अभेद नयसे वही आत्मज्ञान इस शब्द कहा जाता है । तथा वह रागरहित जो सम्यक्चारित्र है उसके बिना नहीं होता मद्यपि यह केवल ज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष है तथापि संसारियोंकी क्षायिक ज्ञानकी प्राप्ति होनेमें क्षयोपशमिक होनेपर भी प्रत्यक्ष कहलाता है । यहाँपर शिष्य आशंका करता कि हे गुण, “आद्ये परोक्षम्” इस तत्त्वार्थ सूत्रमें मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानोंको पं कहा है फिर आप इसको प्रत्यक्ष कैसे कहते हो ! । अब शंकाका परिहार इस प्रकार क

है कि “आये परोक्षम्” हम सूत्रमें जो गुणको परोक्ष कहा है सो उत्सर्ग व्याख्यान है और यह जो हमने कहा है कि भाव श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष है सो उस उत्सर्गका बाधक जो अपवाद है उसकी अपेक्षासे है । यदि तत्त्वार्थसूत्रमें उत्सर्गका कथन न होता तो सत्त्वार्थसूत्रमें मतिज्ञान परोक्ष कैसे कहा गया है ! और यदि वह सूत्रमें परोक्षही कहा गया है तो तर्कशास्त्रमें सांख्यबह्दरिक प्रत्यक्ष कैसे हुआ ! इसलिये जैसे अपवाद व्याख्यानसे परोक्षरूप भी मतिज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है वैसेही निज आत्माके सन्मुख जो भावश्रुत ज्ञान है वह परोक्ष है तोभी उसको प्रत्यक्ष कहते हैं । और यदि एकान्तसे ये मति, गुण दोनों परोक्षही होंगे तो मुख दुःख आदिका जो संवेदन (ज्ञान) है वह भी परोक्षही होगा और वह संवेदन परोक्ष नहीं है । इसी रीतिसे वही आत्मा अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे मूर्धं वस्तुको जो एकदेश प्रत्यक्ष द्वारा सविकल्प जानता है वह अवधिज्ञान है । और जो मनःपर्यय ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे और धीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे अपने मनके अवलम्बनद्वारा परके मनमें प्राप्त हुए मूर्धं पदार्थको एकदेश प्रत्यक्षसे सविकल्प जानता है वह यहाँपर मतिज्ञानपूर्वक मनःपर्यय ज्ञान कहलाता है । इसी प्रकार अपना शुद्ध जो आत्मद्रव्य है उसका भले प्रकार अद्वान करना, जानना और आचरण करना इन रूप जो एकप्रकार ध्यान उसमें केवल ज्ञानावरणादि चार पातिया कर्मोंका नाश होनेपर जो उत्पन्न होता है वह एक समयमें समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावको ग्रहण करने-वाला और सब प्रकारसे उपादेयभूत (ग्रहण करने योग्य) केवल ज्ञान है ॥ ५ ॥

अयं ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयव्याख्यानस्य नयविभागेनोपसंहारः कथ्यते ।

अब ज्ञान तथा दर्शन इन दोनों उपयोगोंके व्याख्यानका नयके विभागसे उपसंहार करते हैं—

गाथा । अष्ट षड् णाण दंसणं सामण्णं जीवलक्खणं भणियं ।

व्यवहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥ ६ ॥

गाथाभावार्थः—आठ प्रकारके ज्ञान और चार प्रकारके दर्शनका जो धारक है वह जीव है । यह व्यवहार नयसे सामान्य जीवका लक्षण है और शुद्ध नयसे शुद्ध जो ज्ञान, दर्शन है वह जीवका लक्षण कहा गया है ।

व्याख्या । “अष्ट षड् णाण दंसणं सामण्णं जीवलक्खणं भणियं” अष्टविधं ज्ञानं षट्पूर्विकं दर्शनं सामान्यं जीवलक्षणं भणितम् । सामान्यमिति कोऽर्थः संसारिजीवमुक्तजीवविवक्षा नास्ति, अथवा शुद्धाशुद्धज्ञानदर्शनविवक्षा नास्ति । तदपि कथमिति चेद् विवक्षाया अभावः सामान्यलक्षणमिति वक्ष्यामः, कस्मात्सामान्यं जीवलक्षणं भणितं “व्यवहारा” व्यवहारान् व्यवहारनयान् । अत्र केवलज्ञानदर्शनं प्रति शुद्धसद्भूतशब्दवाच्योऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारः, अष्टस्थानदर्शनापरिपूर्णपेक्षया पुनरशुद्धसद्भूतशब्दवाच्य उपचरितसद्भूतव्यवहारः, कुमति-

उसके उदयसे व्यवहार नयकी अपेक्षासे जीव मूर्त्त है तो भी निश्चयसे अमूर्त्त है ऐसा उपदेश देते हैं ।

गाथा । वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ट निच्छया जीवे ।

णो संति अमुत्ति तदो वयहारा मुत्ति वंधादो ॥ ७ ॥

गाथाभाषार्थः—निश्चयसे जीवमें पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, और आठ स्पर्श नहीं है इसलिये जीव अमूर्त्त है और वंधसे व्यवहारकी अपेक्षा करके जीव मूर्त्त है ॥ ७ ॥

व्याख्या । “वण्ण रस पञ्च गंधा दो फासा अट्ट निच्छया जीवे णो संति” श्वेतपीतनीलाकण-कृष्णसंज्ञाः पञ्च वर्णाः; तिष्ठकटुककपायान्मधुरसंज्ञाः पञ्च रसाः, सुगन्धदुर्गन्धसंज्ञौ द्वौ गन्धौ, क्षीणोष्णस्निग्धरूक्षमृदुकर्कशगुरुलघुसंज्ञा अष्टौ स्पर्शाः; “निच्छया” शुद्धनिश्चयनयान् शुद्धपुद्गैकस्यभावे शुद्धजीवे न सन्ति । “अमुत्ति तदो” ततः कारणादमूर्त्तः, यगमूर्त्तसिद्धिस्तस्य कथं कर्मवन्ध इति चेत् “वयहारा मुत्ति” अनुपपत्तितासद्गतव्यवहारान्मूर्त्तां पतस्तदपि कस्मान् “बंधादो” अनन्तज्ञानानुपलम्भलक्षणमोक्षविलक्षणानादिकर्मवन्धनादिति । तथा पौर्त्त-कथंचिन्मूर्त्तामूर्त्तजीवलक्षणम्—“बंधं पट्टिण्णत्तं लक्खणदो हवदि तस्स भिन्नत्तं । तग्हा अमुत्तिभावो जेगत्तो होदि जीवस्स । १ ।” अयमप्रार्थः—यस्यैवानूर्त्तस्सारमनः प्राप्त्यभावाद्-नादिसंसारं भ्रमितोऽयं जीवः स एवामूर्त्तौ मूर्त्तपञ्चेन्द्रियविषयत्यागेन निरन्तरं ध्यातव्यः । इति भट्टचार्योक्तमतं प्रत्यमूर्त्तजीवरथापनमुक्त्यत्वेन सूत्रं गतम् ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थः—“वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ट निच्छया जीवे णो संति” श्वेत, नील, पीत (पीला), रक्त (लाल) तथा कृष्ण (काला) ये पांच वर्ण; चरपरा, कटुया, कपायला, खट्टा और मीठा ये पांच रस; सुगन्ध और दुर्गन्ध नामक दो गंध तथा ठंडा, गरम, चिकना, रूखा, मुलायम, कठोर (कड़ा), भारी और हलका यह आठ प्रकारका स्पर्श शुद्ध निश्चय नयसे शुद्ध, बुद्ध एक सभावका धारक जो शुद्ध जीव है उसमें नहीं है । “अमुत्ति तदो” इस हेतुसे यह जीव अमूर्त्त है अर्थात् मूर्त्तिरहित है । शंका—यदि जीव मूर्त्तिरहित है तो मूर्त्तिमें शून्य जीवके कर्मका बंध कैसे होता है ? उत्तर—“वयहारा मुत्ति” यद्यपि अमूर्त्त है तथापि अनुपपत्तिरहित असद्गत व्यवहारसे मूर्त्त है । शंका—यह मूर्त्त भी किस कारणसे है ? उत्तर “बंधादो” अनंतज्ञान आदिकी प्राप्तिरूप जो मोक्ष है उग मोक्षसे विपरीत अनादि कर्मोंके बंधनसे है । और कथंचिन् मूर्त्त तथा अमूर्त्तका लक्षण कहा भी है, जैसे—“बंधके प्रति जीवकी एकता है और लक्षणसे उसकी भिन्नता है इसलिये जीवके अमूर्त्तभाव एकान्तसे नहीं है । १ ।” यहांपर तात्पर्य यह है कि जिस अमूर्त्त आत्माकी प्राप्तिसे अभावसे इस जीवने संसारमें परिभ्रमण किया है उसी अमूर्त्त शुद्धस्वरूप आत्माको मूर्त्त पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कर, ध्याना चाहिये । इस प्रकार भट्ट और चार्योक्तके मतके प्रति जीवको मुख्यतासे अमूर्त्त स्थापन करनेवाला सूत्र समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अथ निष्क्रियामूर्च्छाद्वारेण कर्मादिकर्तृत्वरहितोऽपि जीवो व्यवहृतं दिनयविभागो कर्ता भवतीति कथयति ।

अथ क्रियारहित, अमूर्च्छा, टंकोत्कीर्ण (शुद्ध), ज्ञानरूप एक स्वभावमे जीवः कर्म आदिके कर्त्तापनेसे रहित है तथापि व्यवहार आदि नयके विभागेसे कर्ता होता ऐसा कथन करते हैं ।

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता व्यवहारदो दु णिच्छयदो ।

चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावार्ण ॥ ८ ॥

गाथाभावार्थः—आत्मा व्यवहारसे पुद्गल कर्म आदिका कर्त्ता है, निश्चयसे व कर्मका कर्त्ता है और शुद्ध नयसे शुद्ध भावोंका कर्त्ता है ॥ ८ ॥

व्याख्या । अथ सूत्रे भिन्नप्रक्रमरूपव्यवहितसम्बन्धेन मध्यपदं गृहीत्वा व्याख्यातं किं “आदा” आत्मा “पुग्गलकम्मादीणं कत्ता व्यवहारदो दु” पुद्गलकर्मादीनां कर्त्ता व्यवहार पुनः, तथाहि मनोवचनकायव्यापारक्रियारहितनिजशुद्धात्मवत्त्वभावनाशून्यः समनुपत्तासद्भूतव्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामादिशब्देनौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीयाहारादिपदपर्याप्तियोग्यपुद्गलपिण्डरूपनोकर्मणां तथैवोपचरित्वासद्भूतव्यवहारेण बहिर्विषयदपटादीनां च कर्त्ता भवति । “णिच्छयदो चेदणकम्माणादा” निश्चयनयतश्चेतनकं तथाया रागादिविकल्पोपाधिरहितनिष्क्रियपरमचैतन्यभावनारहितेन यदुपाजितं रागाद्युदकं कर्म तदुदये सति निष्क्रियनिर्मलस्वसंवित्तिमलभमानो भावकर्मसत्त्वद्याच्यरागादिविस्वरूपचेतनकर्मणामशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता भवति । अशुद्धनिश्चयस्यार्थः कथ्यते—कर्त्तापाधिरस्वप्नत्वादशुद्धः, सत्काले सत्तायःपिण्डवत्तन्मयत्वाच्च निश्चयः, इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्चयभण्यते । “सुद्धणया सुद्धभावार्ण” शुभाशुभयोगप्रव्यवहाररहितेन शुद्धपुद्गैकस्वभावेन च परिणमति तदानन्वज्ञानमुखादिशुद्धभावानां छद्मस्थावस्थायां भावनारूपेण विवर्तितैकदेशद्वनिश्चयेन कर्त्ता, मुक्तावस्थायां तु शुद्धनयेनेति । किन्तु शुद्धाशुद्धभावानां परिणममानानां कर्तृत्वं ज्ञातव्यम्, न च हन्नादिव्यापाररूपाणामिति । यतो हि नित्यनिरञ्जननिष्क्रियनिःस्मररूपभावनारहितस्य कर्मादिकर्तृत्वं व्याख्यातम्, तत्सप्रैव निजशुद्धात्मनि भावकर्त्तव्या । एवं सौन्दर्यमते प्रत्यक्षान्ताकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन गाथा यता ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थः—इस सूत्रमें भिन्न प्रक्रमरूप व्यवहित संबन्धसे मध्य (बीचके) पद ग्रहण करके व्याख्यान किया जाता है । “आदा” आत्मा “पुग्गलकम्मादीणं कत्ता व्यवहारदो दु” व्यवहार नयकी अपेक्षामें पुद्गल कर्म आदिका कर्त्ता है । जैसे—मन, वचन तथा शरीरके व्यापाररूप क्रियामें रहित निज शुद्ध आत्मतत्त्वकी जो भावना है उस भावना शून्य होकर उपचरित अमद्भूत व्यवहार नयमें ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मोंका तथा आदि शब्दमें औदारिक, वैक्रियक और आहाररूप तीन शरीर तथा आहार आदि ६ पर्याप्तियोंके योग्य जो पुद्गल पिण्डरूप जो (ईश्वर) कर्म हैं उनका तथा उसी प्रकार उपचरित

भक्तभूत व्यवहारसे प्राप्त विषय घट, पट आदिका भी यह जीव कर्त्ता है । “निच्छयणयदो चेदणकम्माणादा” और निश्चय नयकी अपेक्षासे तो यह आत्मा चेतन कर्मोंका कर्त्ता है । सो ऐसे है कि राग आदि विकल्परूप उपाधिसे रहित निष्क्रिय, परमभावनासे रहित ऐसे जीवने जो राग आदिको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका उपार्जन किया उन कर्मोंका उदय होनेपर निष्क्रिय और निर्मल आत्मज्ञानको नहीं प्राप्त होता हुआ यह जीव भावकर्म इस शब्दसे वाच्य जो रागादि विकल्परूप चेतन कर्म हैं उनका अशुद्ध निश्चय नयसे कर्त्ता होता है । अब अशुद्ध निश्चयका अर्थ कहते हैं । कर्मरूप उपाधिसे उत्पन्न होनेसे अशुद्ध कहलाता है और उस समय अग्निमें तपे हुए लोहके गोलेके समान तन्मय (उत्तीरूप) होनेसे निश्चय कहा जाता है, इस रीतिसे अशुद्ध और निश्चय इन दोनोंको मिलाके अशुद्ध निश्चय कहा जाता है । “सुद्वणया सुदभावाणं” जीव जब शुभ तथा अशुभ मनो, वचन, और कायरूप तीनों योगोंके व्यापारसे रहित शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभावसे परिणमता है तब अनंत ज्ञान, सुख आदि शुद्ध भावोंका छद्मस्व अवस्थामें भावनारूप विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चय नयसे कर्त्ता होता है और मुक्त अवस्थामें तो शुद्ध निश्चय नयसे अनंत ज्ञानादि शुद्ध भावोंका कर्त्ता है । यहां विशेष यह है कि शुद्ध अशुद्ध भावोंका जो परिणमन है उन्हींका कर्त्तृत्व जीवमें जानना चाहिये और हस्त आदिके व्यापाररूप परिणमनोंको न समझना चाहिये । क्योंकि नित्य, निरंजन, निष्क्रिय ऐसे अपने आत्मस्वरूपकी भावनासे रहित जो जीव है उसीके कर्म आदिका कर्त्तृत्व कहा गया है । इसलिये उस निज शुद्ध आत्मामें ही रायना करनी चाहिये । ऐसे सांख्यमतके प्रति “एकान्तसे जीव कर्त्ता नहीं है” इस मतके नेराफरणकी मुख्यतासे गाथा समाप्त हुई ॥ ८ ॥

अथ यद्यपि शुद्धनयेन निर्विकारपरमादौ कलक्षणमुत्तममृतस्य भोक्ता तथाप्यशुद्धनयेन सांसारिकमुखदुःखस्यापि भोक्तात्मा भवतीत्याख्याति ।

अथ यद्यपि आत्मा शुद्ध नयसे विकाररहित परम आनंदरूप एक लक्षणका धारक जो सुखरूपी अमृत है उसको भोगनेवाला है तथापि अशुद्ध नयसे संसारमें उत्पन्न हुए जो सुख दुःख हैं उनका भी भोगनेवाला है ऐसा कथन करते हैं ।

व्यवहारा सुहृदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि ।

आदा निच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥ ९ ॥

गाथाभावार्थः—आत्मा व्यवहारसे सुख दुःखरूप पुद्गल कर्मोंके फलको भोगता है और निश्चय नयसे आत्मा चेतन स्वभावको भोगता है ॥ ९ ॥

व्याख्या । “व्यवहारा सुहृदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि” व्यवहारात्सुखदुःखरूपं पुद्गलकर्मफलं प्रभुंजे । स कः कर्त्ता “आदा” आत्मा “निच्छयणयदो चेदणभावं आदस्स” निश्चयनययत्तश्चेतनभावं भुंजे “खु” स्पृष्टं कस्य सम्बन्धिनमात्मनः स्वप्नेति । तथा-आत्मा हि

निजशुद्धात्मसंविचितसमुद्भूतपारमार्थिकमुग्धमुधारसमोजनमलममान अन्वर्तितसद्भूत-
हारेणैष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयजनितसुखदुःखं मुद्गे तथैवानुपचरितासद्भूतव्यवहारोनामने
सुखदुःखजनकं द्रव्यकर्मरूपं सातासतोदयं मुद्गे । स एवाशुद्धनिश्चयनयेन हर्षविराग-
सुखदुःखं च मुद्गे । शुद्धनिश्चयनयेन तु परमात्मस्वभावसम्बन्धग्रन्थानुदानानुशानोपपन्न-
नन्दैकलक्षणं सुखामृतं मुद्गे इति । अत्र यत्तैव स्वामार्थिकमुग्धामृतस्य भोजनामार्थं-
यसुखं मुञ्चानः सन् संसारे परिभ्रमति तदेवातीन्द्रियसुखं सर्वप्रकारेणोपादेयमित्यभिप्रे-
त्यं कर्त्ता कर्मफलं न मुद्गे इति बौद्धमतनियेधार्थं भोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण सूत्रं गतम् ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थः—“व्यवहारा सुह दुखत्वं पुगलकम्मफलं पभुंजेदि” व्यवहार नर-
अपेक्षासे सुख तथा दुःखरूप पुद्गल कर्मफलोंको भोगता है । वह कर्मफलोंका भोक्ता है ।
कि “आदा” अर्थात् आत्मा । “णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स” और निश्चय नने
तो स्फुट रीतिसे चेतन भावका ही भोक्ता आत्मा है और वह चेतन भाव किस संबन्धी
कि अपना ही संबंधी है, वह ऐसे कि निज शुद्ध आत्माके ज्ञानसे उत्पन्न जो पारमार्थिक
सुखरूप अमृत रस है उसके भोजनको नहीं प्राप्त होता हुआ जो आत्मा है वह उपचरित
असद्भूत व्यवहार नयसे इष्ट तथा अनिष्ट पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न सुख त-
दुःखको भोगता है, ऐसेही अनुपचरित असद्भूत व्यवहारसे अन्तरंगमें सुख तथा दुःखसे
उत्पन्न करनेवाला जो द्रव्यकर्मरूप सात (सुखरूप) असात (दुःखरूप) उदय है उससे
भोगता है, और वही आत्मा अशुद्ध निश्चय नयसे हर्ष तथा विषादरूप सुख दुःखसे
भोगता है, और शुद्ध निश्चय नयसे तो परमात्मस्वभावका जो सम्बन्ध श्रद्धान, ज्ञान और
आचरण, उससे उत्पन्न अविनाशी आनंदरूप एक लक्षणका पारक जो सुखामृत है
उसको भोगता है । यहांपर जिस स्वभावसे उत्पन्न हुए सुखामृतके भोजनके अभावसे ही आत्म
इन्द्रियोंके सुखोंको भोगताहुआ संसारमें परिभ्रमण करता है; वही जो स्वभावसे उत्पन्न
इन्द्रियोंके अगोचर सुख है सो सब प्रकारसे ग्रहण करने योग्य है ऐसा अभिप्राय है ।
इस प्रकार “कर्त्ता कर्मके फलको नहीं भोगता है” यह जो बौद्धका मत है उसका खंडन
करनेके लिये जीव कर्मफलका भोक्ता है इस व्याख्यानरूप जो सूत्र (गाथा) है सो
समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

अयं निश्चयेन लोकप्रमितासंख्येयप्रदेशमात्रोऽपि व्यवहारेण देहमात्रो जीव इत्यावेदयति ।

अव यपि आत्मा निश्चय नयसे लोकप्रमाण अमंश्यात् प्रदेशोका पारक है तथानि
व्यवहारमें देहप्रमाण है यह कथन करते हैं ।

अणुगुरुदेहप्रमाणो उयसंहारप्पसत्पदो चेदा ।

असमुद्दो ययहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो या ॥ १० ॥

भाषाभावार्थः—व्यवहार नयसे समुद्भूत अवस्थाके बिना यह जीव संकोच तथा

वेद्यारसे छोटे और बड़े शरीरके प्रमाण रहता है और निश्चय नयसे जीव असंख्यात देशोंका धारक है ॥ १० ॥

प्याप्या । “अणुगुरुदेहप्रमाणो” निम्नयेन स्वदेहाग्निभक्ष्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणराशेर-
भक्ष्यस्य निजमुद्रात्मस्वरूपस्योपलब्धेरभावात्तथैव देहममत्वमूलभूताहारभयमैशुनपरिग्रहसं-
ताप्रभृतिसमन्तरागादिविभावानामासक्तिसद्भावाच्च यदुपाजितं शरीरनामकर्म तदुद्भवे सति
अणुगुरुदेहप्रमाणो भवति । स कः कर्त्ता “वेदा” चेतयिता जीवः । कस्मात् “उपसंहारपस-
पदो” उपसंहारप्रसपतः शरीरनामकर्मजनितविस्तारोपसंहारधर्माभ्यामित्यर्थः । कोऽत्र
दृष्टान्तः, यथा प्रदीपो महद्भाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तरं सर्वं प्रकाशयति लघुभाजनप्रच्छादि-
स्तद्भाजनान्तरं प्रकाशयति । पुनरपि कस्मात् “असमुद्भूतो” असमुद्भातात् पेशनाकपायवि-
श्रयामरणान्तिकत्वेजसाहारककेवलिसंशसप्तसमुद्भातवर्जनात् । तथा शोकं सप्तसमुद्भातल-
क्षणम् — “वेद्येणकसायचिउभ्वियमारणंतिउसमुद्भादो । तेजाहारो हृद्दो सप्तमउ केवलीर्ण ॥१॥”
तथा “मूलशरीरमलंघिय उत्तरदेहस्त जीवपिहस्त । निगमणं देहादो हवदि समुद्भाव्यं
गाम ॥ १ ॥” सीप्रवेदानुभवान्मूलशरीरमत्यक्त्वा आत्मप्रदेशानां परिनिर्गमनमिति वेदना-
समुद्भावः । १। सीप्रकपायोदयान्मूलशरीरमत्यक्त्वा परस्य पातार्थमात्मप्रदेशानां परिनिर्गमनमिति
कपायसमुद्भावः । २। मूलशरीरमपरित्यज्य किमपि विकर्तुमात्मप्रदेशानां परिनिर्गमनमिति विक्रि-
यासमुद्भावः । ३। मरणान्तसमये मूलशरीरमपरित्यज्य यत्र कुत्रचिद्व्यवसायप्रदेशं स्फुटितु-
मात्मप्रदेशानां परिनिर्गमनमिति मरणान्तिकसमुद्भावः । ४। स्वस्य मनोनिष्ठजनकं किञ्चित्कार-
णान्तरमवलोक्य समुत्पन्नकोषस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमत्यज्य सिन्दूरपुष्पप्रभो
दीर्घत्वेन द्वादशयोजनप्रमाणः सूक्ष्मद्रुतसङ्ख्येयभागमूलविस्तारो नवयोजनाप्रविस्तारः काह-
लाकृतिपुरुषो धामस्कन्धाभिर्गल्य धामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं विरुद्धं वस्तु भक्षसात्कृत्य
तेनैव संयमिना सह स च भस्म प्रजति द्वीपायनवन्, असावशुभस्त्रेजःसमुद्भावः, लोकं
क्याधिदुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नरूपस्य परमसंयमनिधानस्य महर्षेर्मूलशरीरमत्यज्य
शुभाकृतिः प्रागुच्छदेहप्रमाणः पुरुषो दक्षिणप्रदक्षिणेन व्याधिदुर्भिक्षादिकं स्तोदयित्वा पुनरपि
स्वस्थाने प्रविशति, असौ शुभरूपस्त्रेजःसमुद्भावः । समुत्पन्नपदपदार्थभ्रान्तेः परमद्विसं-
पन्नस्य महर्षेर्मूलशरीरमत्यज्य शुद्धस्फटिकाकृतिरेकहस्तप्रमाणः पुरुषो मलकमध्याभिर्गल्य यत्र
कुत्रचिदन्तर्मुहूर्तमध्ये केवलज्ञानिनं पश्यति तद्दर्शनाच्च स्वाभ्यस्य मुनेः पदपदार्थनिश्चयं
समुत्पाप पुनः स्वस्थाने प्रविशति, असावाहारसमुद्भावः । सप्तमः केवलिनं दण्ड-
कपाटप्रसरपूरणः सोऽयं केवलिसमुद्भावः । नयविभागः कथ्यते । “बबहारा” अनुपचरितास-
द्भूतव्यवहारनयान् “गिच्छत्ययपदो असंसदो वा” निश्चयनयतो लोकाकाशप्रमितासंरये-
यप्रदेशप्रमाणः वा शब्देन तु स्वसंवित्तिसमुत्पन्नकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे ज्ञानापेक्षया व्यवहार-
नयेन लोकालोकव्यापकः न च प्रदेशापेक्षया नैयायिकमीमांसकसांख्यमतवन् । तथैव पञ्चे-
न्द्रियमनोविषयविकल्परहितसमाधिकाले स्वसंवेदनलक्षणबोधसद्भावेऽपि परिनिर्गमेन्द्रिय-
योधाभावाज्जडः न च सर्वथा सांख्यमतवन् । तथा रागादिविभावपरिणामापेक्षया दून्योऽपि
भवति न पानन्तज्ञानापेक्षया बौद्धमतवन् । किञ्च अणुमात्रशरीरापेक्षेनात्र वत्सेपपना-
हुलासंख्येयभागप्रमितं लब्धपूर्णसूक्ष्मनिगोदशरीरं ग्राह्यं न च पुद्गलपरमाणुः । गुरुशरीर-

कारणको देखकर उत्पन्न हुआ है क्रोध जिसके ऐसा जो संयमका निधान महामुनि उसके वाम (बायें) कंधेसे सिंदूरके डेरकीसी कान्तिवाला, बारह योजन लम्बा, सूच्यंगुलके संख्येय भाग प्रमाण मूत्र विस्तार और नव योजनके अग्र विस्तारको धारण करनेवाला काहल () के आकारका धारक पुरुष निकल करके वाम प्रदक्षिणा देकर मुनिके हृदयमें स्थित जो विरुद्ध पदार्थ है उसको भस्म करके और उसी मुनिके साथ आप भी भस्म होजाय; जैसे द्वीपायन मुनिके शरीरसे पुतला निकलके द्वारिकाको भस्म कर उसीने द्वीपायन मुनिको भस्म किया और यह पुतला आप भी भस्म होगया उसीकी तरह जो हो सो अशुभ तेजस समुद्रात है । तथा जगत्को रोग अथवा दुर्भिक्ष आदिते पीडित देखकर उत्पन्न हुई है कृपा जिसके ऐसा जो परमसंयमनिधान महाशक्ति उसके मूल शरीरको नहीं त्यागकर पूर्वोक्त देहके प्रमाणको धारण करनेवाला अच्छी सौम्य आकृतिका धारक पुरुष दक्षिण स्कंधसे निकलकर दक्षिण प्रदक्षिणाकर रोग दुर्भिक्ष आदिको दूर कर फिर अपने स्थानमें प्रवेश कर जाय यह शुभ रूप तेजस समुद्रात है । ५ । उत्पन्न हुई है पद और पदार्थमें भ्रान्ति (संशय) जिसके ऐसा जो परम शक्ति धारक महर्षि उसके मस्तकमेंसे मूल शरीरको न छोड़कर निर्मल स्फटिक (चित्तोर) की आकृति (रंग) को धारण करनेवाला एक हाथका पुरुष निकलकर अन्तर्मुहूर्तके बीचमें जहां कहीं भी केवलीको देखता है और उन केवलीके दर्शनसे अपना आश्रय जो मुनि उसके पद और पदार्थका निश्चय उत्पन्न कर फिर अपने स्थानमें प्रवेश कर जाय सो यह आहार समुद्रात है । ६ । केवलियोंके जो दंड कपाट मंतर पूर्ण होता है सो सातवां केवलि समुद्रात है । ७ । अब नवोंका विभाग कहते हैं । “व्यवहारा” यह जो गुरुलघुदेहप्रमाणता जीवकी दर्शाई गई है यह अनुपचरित असंभूत व्यवहार नयसे है तथा “निच्छयणयदो असंस्वेतो वा” निश्चय-नयसे लोकाकाश प्रमाण जो असंख्येय प्रदेश हैं उन प्रमाण अर्थात् लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशोंका धारक यह आत्मा है और “असंस्वेतो वा” यहां जो गाथाके अंतमें वा शब्द दिया गया है उस वा शब्दसे ग्रंथकर्त्ताने यह सूचित किया है कि स्वसंविधि (आत्मज्ञान) से उत्पन्न हुआ जो केवलज्ञान उसकी उत्पत्तिके प्रस्तावमें अर्थात् केवल ज्ञानावस्थामें ज्ञानकी अपेक्षासे व्यवहारनयद्वारा आत्माको लोक और अलोकमें व्यापक माना है और जैसे नैयायिक, भीमांसक तथा सांख्य मतवाले आत्माको प्रदेशोंकी अपेक्षासे व्यापक मानते हैं वैसा नहीं । इसी प्रकार पांचों इन्द्रियों और मनके विषयोंके जो विकल्प उनसे रहित जो समाधिकाल (ध्यानका समय) है उसमें आत्मज्ञानरूप ज्ञानके विद्यमान होनेपर भी बाह्य विषयरूप जो इन्द्रियज्ञान है उसके अभावसे आत्मा जड़ माना गया है और सांख्यमतकी तरह आत्मा सर्वथा जड़ नहीं है । ऐसे ही आत्मा राग, द्वेष आदि जो विभाव परिणाम हैं उनकी अपेक्षासे अर्थात् उनके न होनेसे शून्य भी होता है, परंतु

व्याख्यानार्थः—अब 'होति' इत्यादि पदोंकी व्याख्या की जाती है । "होति" अतीन्द्रिय तथा मूर्तिरहित जो निजपरमात्माका स्वभाव है उसके अनुभवसे उत्पन्न जो सुखरूपी अमृतरस उसके स्वभावको नहीं प्राप्त करते हुए जीव सुच्छ (अल्प) जो इंद्रियोंसे उत्पन्न सुख है उसकी अभिलाषा करते हैं और अज्ञानतासे उस इंद्रियजनित सुखमें आसक्त होकर एकेन्द्रिय आदि जीवोंका घात करते हैं. उस घातसे उपार्जन किया जो व्रत तथा स्थावर नामकर्म उसके उदयसे होते हैं. "पुद्गलजलतेयवाऊवण्णप्फदीविहथावरे इंदी" पृथिवी, जल, तेज, वायु, तथा वनस्पति जीव, कितने—अनेक प्रकारके अर्थात् शास्त्रमें कहे हुए जो अपने २ भेद हैं उनसे बहुत प्रकारके, स्थावर नाम कर्मके उदयसे स्थावर, एकेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे स्पर्शन इन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय होते हैं. केवल इस प्रकारके स्थावरही नहीं होते हैं; किन्तु "विगतिगचहुपंचकला तसजीवा" दो, तीन, चार, तथा पांच इंद्रियोंके धारक व्रत नामकर्मके उदयसे व्रत जीव होते हैं. वे कैसे हैं कि "संस्वादी" शंस आदिक अर्थात् स्पर्शन और रसन इन दो इंद्रियों सहित शंस, कृमि आदि दो इंद्रियोंके धारक जीव हैं; स्पर्शन, रसन, तथा घ्राण (नासिका) इन तीन इंद्रियों सहित कुंभु, पिपीलिका (कीड़ी), यूका (जू), मत्स्य (खटमल) आदि त्रीन्द्रिय हैं. स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु (नेत्र) इन चार इंद्रियों सहित वृक्ष (डाँतर), मशक (माछर), मक्षिका (मक्खी) और भौंरा आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं; स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कर्ण) इन पांच इंद्रियों सहित मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय हैं । यहांपर सावधान यह है कि निर्मल ज्ञान तथा दर्शन स्वभावका धारक जो निज परमात्मस्वरूप उसकी भावनासे उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख है उसको नहीं प्राप्त होते हुए जीव इंद्रियोंके सुखमें आसक्त होकर जो एकेन्द्रियादि जीवोंका वध करते हैं उससे व्रत तथा स्थावर होते हैं, ऐसा पहले कह चुके हैं इसलिये व्रत और स्थावरोंमें जो उत्पत्ति होती है उसके नाशके लिये उसी पूर्वोक्त प्रकारसे परमात्मामें भावना करनी चाहिये ॥ ११ ॥

तदेव व्रतस्थावरवर्गं चतुर्दशजीवसमामरूपेण व्यक्तीकरोति ।

अब उसी व्रत तथा स्थावरवर्गके चतुर्दश १४ जीवसमासोंद्वारा व्यक्त (प्रकट) करते हैं ।

समणा अमणा जेया पंचिदिया णिम्मणा परे सच्च्ये ।

पादरसुहमे इंदी सच्च्ये पञ्चस्त इदराय ॥ १२ ॥

गाथाभाष्यार्थः—पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो प्रकारके जानने चाहिये और ये इंद्रिय, ते इंद्रिय, चौ इंद्रिय ये सब मनरहित (असंज्ञी) हैं. एकेन्द्रिय पादर और सुहमे दो प्रकारके हैं और ये पूर्वोक्त सातों पर्याप्त तथा अपर्याप्त हैं. ऐसे १४ जीव-समास हैं ॥ १३ ॥

ध्याया—“समणा अमणा” ममन्मनुमाधुमविरुन्वातीनरमा मनुव्यवित्त्रां नाना-
कल्पजातरूपं मनो भण्यते तेन मह्ये चत्तन्ते न समनस्काः, तद्विपरीता अमनस्का अमन्दि-
‘णेया’ ज्ञेया ज्ञानव्याः । “पंचिन्द्रिया” ते मंजिनमयैवामंजिनश्च पञ्चेन्द्रियाः । एवं मंज-
संक्षिप ष्चेन्द्रियानियंश्च एव, नागकमनुज्यदेवाः मंजिप ष्चेन्द्रिया एव । “णिग्मणा परे सर्वे”
निर्मेतस्काः पञ्चेन्द्रियात्सकागादपरे सर्वे द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः “वादरमुहमे इंदी” वादर-
क्ष्मा एकेन्द्रियात्मेऽपि यदष्टपत्रपद्याकारं द्रव्यमननदाकारेण मिश्रालापोपदेशादिमाहकं भाव
मनश्चेति तदुभयाभावादमंजिन एव । “सञ्जे पञ्चत्त इदराय” एवमुक्तप्रकारेण मंजिमंजिस्तेन
पञ्चेन्द्रियद्वयं द्वित्रिचतुरिन्द्रियरूपेण विकलेन्द्रियत्रयं वादरमूत्रमरूपेणैकेन्द्रियद्वयं चेति
सप्तभेदाः । “आहारसर्गीन्द्रिय पञ्चनी आणपाणमाममणाः । चत्तारिपंचलपियइन्द्रियवियल-
सणिसणणीणं । १ ।” इति गायार्कथितक्रमेण ते सर्वे प्रत्येकं स्वकीयस्वकीयपर्याप्तिमम-
यात्मन पर्याप्ताः सप्तापर्याप्ताश्च भवन्ति । एवं चतुर्दशज्ञातविसमामा ज्ञानव्याप्तेषां च “इन्द्रिय-
काया ऊणिय पुण्णापुण्णे सुपुण्णमे आणा । वेइन्द्रियादि पुण्णे सुवचिमणोमणि पुण्णोय । १ ।
इस सण्णीणां पाणा सेसे गूणंति मण्णवे ऊणा । पञ्चत्ते मिदरेसुपमचहुगेमेसमगेण्णा । २ ।”
इति गायार्कथितक्रमेण यथासंभवमिन्द्रियादिदशप्राणाश्च विज्ञेयाः । अग्रैरेभ्यो भिन्नं निज-
शुद्धात्मवत्स्वमुपादेयमिति भावार्थः ॥ १७ ॥

व्याख्या—“समणा अमणा” संपूर्ण शुभ तथा अशुभरूप जो विकल्प हैं उन
विकल्पोसे रहित जो परमात्मरूप द्रव्य है उससे विलक्षण नाना प्रकारके विकल्पजालोरूप
जो है उसको मन कहते हैं. उस मनसे सहित जो हैं उनको समनस्क (सैनी) कहते हैं
और उनसे विरुद्ध अर्थात् पूर्वोक्त मनमे शून्य अमनस्क अर्थात् असंज्ञी (असैनी) “णेया”
जानने चाहिये । “पंचिन्द्रिया” पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी तथा अमंज्ञी दोनों होते हैं परन्तु संज्ञी
तथा असंज्ञी ये दोनों पंचेन्द्रिय तिर्यचही होते हैं और नागक, मनुज तथा देव ये मंज्ञी
पंचेन्द्रिय ही होते हैं । “णिग्मणा परे सर्वे” पंचेन्द्रियसे भिन्न अन्य सब द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय
और चतुरिन्द्रिय जीव मनरहित (असैनी) हैं । “वादरमुहमे इंदी” वादर (स्थूल)
और सूक्ष्म जो एकेन्द्रिय हैं वे भी आठ पाँसड़ीके कलके आकार जो द्रव्यमन और उस
द्रव्यमनके आधारसे शिक्षा, वचन और उपदेश आदिका माहक भावमन इन दोनोंके
अभावसे असंज्ञी (मनरहित) ही हैं । “सञ्जे पञ्चत्तदराय” इस पूर्वोक्त प्रकारसे संज्ञी
असंज्ञीरूप दोनों पंचेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप जो विकलद्रव्य
और वादर, तथा सूक्ष्म भेदसे दोनों एकेन्द्रिय ऐसे ये सात भेद हुए । तथा “आहार,
शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा मन ये पद् (६) पर्याप्ती हैं, इनमेंसे जो एकेन्द्रिय
जीव हैं उनको तो केवल आहार, शरीर, एक इन्द्रिय, तथा श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ
होती हैं. मंज्ञी पंचेन्द्रियोंके चार ये पूर्वोक्त, और भाषा तथा मन ये छहों पर्याप्तियाँ होती
हैं और दोष जीवोंके मनरहित पांच पर्याप्तियाँ होती हैं.” इस गायार्कमे कहे हुए क्रमसे वे सब
हरएक अपनी २ पर्याप्तियोंके होनेमे सात तो पर्याप्त हैं और सात अपर्याप्त हैं. ऐसे चौर

जीवसमाप्त जानने चाहिये।" "इनमें एकेन्द्रिय जीवके आयु, काय, एकेन्द्रिय तथा श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण हैं। द्वीन्द्रियोंके पूर्वोक्त चार, रसना इन्द्रिय और भाषा ये ६ प्राण हैं। त्रीन्द्रियोंके पूर्व ६ और घ्राण इन्द्रिय अधिक ऐसे सात प्राण हैं। चतुरिन्द्रियोंके पहले सात और चक्षु इन्द्रिय ऐसे ८ प्राण हैं, असंज्ञी पंचेन्द्रियोंके कर्ण इन्द्रिय अधिक होनेसे ९ प्राण है और संज्ञी पंचेन्द्रियोंके मनकी अधिकतासे १० प्राण हैं।" इन दो गायार्जोंद्वारा कहे हुए क्रमसे यथासंभव इन्द्रियादि दश प्राण समझने चाहिये । यहांपर कथनका अभिप्राय यह है कि इन पूर्वोक्त पर्यायियों तथा प्राणोंमें भिन्न जो अपना शुद्ध आत्मतत्त्व है उसको ग्रहण करना चाहिये ॥ १२ ॥

अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावमाहकेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावा अपि जीवाः पञ्चादशुद्धनयेन पनुद्देशमार्गणास्थानपनुद्देशगुणस्थानमहिता भवन्तीति प्रतिपादयति ।

अब शुद्ध पारिणामिक परम भावका माहक जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है उससे सब जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके धारक है तो भी अशुद्धनयसे चांदह मार्गणास्थान और चांदह गुणस्थानोंसहित होते हैं ऐसा कथन करते हैं ।

मग्नगुणगुणगणेहि य चउदसहि ह्यंति तद् असुद्धणया ।

विण्णेया संसारी सव्ये सुद्धा ह सुद्धणया ॥ १३ ॥

गाथाभाषार्थः—संसारी जीव अशुद्ध नयसे चांदह मार्गणास्थानोंमें तथा चांदह गुणस्थानोंमें चांदह २ प्रकारके होते हैं और शुद्धनयसे तो सब संसारी जीव शुद्ध ही हैं ।

व्याख्या । "मग्नगुणगुणगणेहि य ह्यंति तद् विण्णेया" यथा पूर्वगूत्रोदितपनुद्देशजीवसमाप्तैर्भवन्ति मार्गणगुणरयानैश्च तथा भवन्ति संभवन्तीति विशेषा स्तान्ध्या । कतिमरयोपेतैः "चउदसहि" प्रत्येकं पनुद्देशमिः । कस्मान् "असुद्धणया" अशुद्धनयान् वक्तव्यम् । ॥ चभूताः के भवन्ति । "संसारी" मांसारीजीवाः । "सव्ये सुद्धा ह सुद्धणया" ॥ एव सर्वे संसारिणः शुद्धाः सहजशुद्धज्ञायकैकस्वभावाः । कस्मान् शुद्धनयान् शुद्धनिधयनयादिति । अध्यागमप्रसिद्धगाथाद्वयेन गुणस्थाननामान् कथयति । "मिच्छासामणमिस्सो अविरसमोय देसाविरदोय । विरयापमसइयरो अपुच्च अनिणट्ठि सुहयोय । १ । उवसंतरीणमोहो सज्जोनिक्कल्लिज्जो अजोगीया । चउदसगुणदृग्णाणि य कमेण सिद्धाय णायव्वा । २ ।" इदानीं तेषामेव गुणस्थानानां प्रत्येकं संक्षेपलक्षणं कथ्यते । तथाहि-सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूपावर्णद्वय-क्षप्रतिभासमपतिजपरमात्मप्रभृतिवद्द्रव्यपञ्चालिबापसप्रतस्वनव्यवधार्येण मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितं बीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य अज्ञानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिर्भवति । पापाणेररासज्ञानन्तःपुच्छन्निबोधमानमायालोभान्यतरोदयेन प्रथममोपसमिकसम्यक्त्ववाप्तितो मिथ्यात्व नापार्थ गच्छतीत्यन्तराटवन्ती साक्षादन । निजशुद्धतादिनस्व बीतरागसर्वज्ञप्रणीत परप्रणीत च मन्यते य ॥ दानमोहनीयधर्मिधर्ममोदयेन दारिद्र्यनिधन

पुनः सर्वथैव नास्ति, इति हेतोरशुद्धत्वं भण्यते । तत्र शुद्धाशुद्धपारिणामिकमध्ये शुद्धपारिणामिकभावो ध्यानकाले ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति, कस्मान् ध्यानपर्यायस्य त्रि-
श्रत्वान्, शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूपत्वाद्भिनश्चरः, इति भावार्थः । औपशमिकश्रायोपशमि-
कश्रायिकसम्यक्त्वभेदेन त्रिधा सम्यक्त्वमार्गणा मिथ्यादृष्टिसासादनमिभ्रसंज्ञविपश्चर्यभेदे
सह पट्टिधा ज्ञातव्या । १२। संक्षित्वासंक्षित्वविसदृशपरमात्मस्वरूपाद्भिन्ना संज्ञसंक्षिभेदेन द्विधा
संक्षिमार्गणा । १३। आहारकानाहारकजीवभेदेनाहारकमार्गणापि द्विधा । १४। इति चतुर्दशमार्गणा
स्वरूपं ज्ञातव्यम् । एवं “पुटविजलत्वेय वाऊ” इत्यादिगाथाद्वयेन, तृतीयगाथापादद्वयेन च
“गुणजीवापञ्जस्ती पाणासण्णायमग्गणा उया । उवओगो विय कममो बीसं तु परुवणा भगिणा
। १ ।” इति गाथाप्रभृतिकथितस्वरूपं धवलजयधवलमहाधवलप्रयन्धामिधानसिद्धान्तर-
धीजपदं सूचितम् । “सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया” इति शुद्धात्मतत्त्वप्रकाशकं तृतीयगाथापद-
पादेन पञ्चास्तिकायप्रवचनसारसमयसाराभिधानप्राभृतप्रत्यस्यापि धीजपदं सूचितमिति ।
अत्र गुणस्थानमार्गणादिमध्ये केवलज्ञानदर्शनद्वयं श्रायिकसम्यक्त्वमनाहारकशुद्धात्मस्वरूपं
च साक्षादुपादेयं, यत्पुनश्च शुद्धात्मसम्यक्त्वज्ञानज्ञानानुचरणलभ्यं कारणसमयसारस्वरूपं
तत्सम्येवोपादेयमूतस्य विवक्षितैकदेशशुद्धजनयेन साधकत्वात्पारम्पर्येणोपादेयं, शेषं तु ईश-
मिति । यथाध्यात्मग्रन्थस्य धीजपदभूतं शुद्धात्मस्वरूपमुक्तं तत्पुनरुपादेयमेव ।
अनेन प्रकारेण जीवाधिकारमध्ये शुद्धाशुद्धजीवकथनमुख्यत्वेन समसंस्थले गाथार्थ-
गतम् ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थः—“मग्गणगुणठाणेहि म इवन्ति तह विण्णेया” जित प्रकार “तन्ना
अमणा” इत्यादि पूर्व गाथामें कहे हुए चतुर्दश १४ जीवममासोंसे जीवोंके चतुर्दश १४
भेद होते हैं उसी प्रकार मार्गणा और गुणस्थानोंसे भी होने हैं, ऐसा जानना चाहिये ।
किनकी संख्याके पारक मार्गणा और गुणस्थानोंसे होते हैं ? “चउदसहि” मत्वेक चतुर्दश
१४ संख्याके पारकमें । किम अपेक्षामें ? “अगुदणया” अगुद नयकी ओ-
क्षामें । चतुर्दश मार्गणा और चतुर्दश गुणस्थानोंमें अगुद नयकी अपेक्षा और
कौदह प्रकारके होनेवाले कौन हैं ? “मंसारी” मसारी जीव हैं । “सव्वे सुद्धा
हु सुद्धणया” बेही सब मंसारी जीव शुद्ध निधम नयकी अपेक्षामें शुद्ध भवत
समावसे उत्पन्न जो शुद्ध श्रायक (जाननेवाला) रूप एक स्वभाव उमके पारक हैं । जो
श्रायकोंमें समिद्ध जो दो गाथा हैं, उनके द्वारा गुणस्थानोंके नाम कहते हैं । गाथार्थ—“वि-
यन्व १ समादन २ निध ३ अविगमम्यक्त्व ४ देशविरत ५ प्रमणविरत ६ अममण-
विरत ७ अहंविच्छेद ८ अनिशुविच्छेद ९ मृममांगव १० । १ । उपनान्तमोह ११
रत्तनेह १२ मयोगि केवन्ति जिन १ और मयोगि केवन्ति जिन १४ इस प्रकार कम-
गुण संज्ञा गुणस्थान जानने चाहिये । २ ।” अब इन गुणस्थानोंमेंमें मत्वेकका संज्ञा
उक्त कहते हैं—इमें स्वकीय शुद्ध केवन्त ज्ञान और केवन्त दर्शनरूप जो मत्वेक
इन्द्रिय प्रत्यक्ष है तद्वत् अन्यत्र प्रतिबलमय जो निजगमना (अपना शुद्ध जीव)

यह है आदिमें जिसके ऐसे जो षट् द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थ उनमें तीन मृदता आदि षचीत्त २५ मल (दोष) रहितत्वपूर्वक वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए नयविभागसे जिस जीवके श्रद्धान नहीं है वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है । १ । पापाणरेखा (पत्थरमें की हुई लकीर)के समान जो अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं; उनमेंसे किसी एकके उदयसे प्रथम जो औष्ण्यमिक सम्यक्त्व है उससे जीव गिरके जबतक मिथ्यात्वको प्राप्त न हो तबतक सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनोंके बीचमें विद्यमान जो जीव है वह सासादन है । २ । जो अपने शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वको वीतराग सर्वज्ञका कहा हुआ भी मानता है और अन्य मतके आचार्योंद्वारा कहा हुआ भी मानता है वह दर्शनमोहनीय कर्मका भेद जो मिश्रकर्म है उसके उदयसे दही और गुड़ मिले हुए पदार्थकी भांति तीसरा जो मिश्र गुणस्थान है उसमें रहनेवाला जीव है । ३ । अब कोई शंका करे कि चाहे जिससे हो मुझे तो एक देवसे प्रयोजन है अथवा सब देवोंकी बन्दना करनी योग्य है, निन्दा किसीभी देवकी न करनी चाहिये" इस प्रकार वैयक्तिक मिथ्यादृष्टि और संशयमिथ्यादृष्टि मानता है तब उसके साथ मिश्रगुणस्थानवर्षी सम्यग् मिथ्यादृष्टिका क्या भेद है अर्थात् वैयक्तिक या संशयमिथ्यादृष्टिमें और सम्यग्मिथ्यादृष्टिमें क्या भेद है जिससे उसको जुदा कहा ! इस शंकाका खण्डन यह है कि—वैयक्तिक मिथ्यादृष्टि अथवा संशयमिथ्यादृष्टि तो संपूर्ण देवोंमें तथा सब शास्त्रोंमें किसी एककी भक्तिके परिणामसे मुझे पुण्य होगा अर्थात् इन सबकी सेवा करनेसे किसी एककी तो मेरा सफल होगी ऐसा मानकर संशयरूपसे भक्ति करता है; क्योंकि, उसको किसी देवमें निश्चय नहीं है कि यह सत्य है और मिश्रगुणस्थानवर्षी जीवके दोनोंमें निश्चय है । यम, यही विशेष है । जो स्वभावसे उत्पन्न जो अनन्त ज्ञान आदि अनन्त गुण हैं उनका आधारभूत निज परमात्मद्रव्य तो उपादेय है और इंद्रियोंके सुख आदि परद्रव्य हेय (त्याग्य) है ऐसे अर्हत् सर्वश्रेष्ठ देवसे प्रणीत निश्चय तथा व्यवहारनयको साध्य साधक भावसे मानता है, परन्तु भूमिकी रेखाके तुल्य क्रोध आदि द्वितीय कषायभेदके अर्थात् प्रत्याख्यानकषायके उदयसे मारनेके लिये कोतवालसे पकड़े हुए चोरकी भांति आत्मनिन्दादि सहित होकर इंद्रियोंके सुखोंका अनुभव करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानवर्षी जीवका स्वरूप है । ४ । जो पूर्वोक्त प्रकारसे सम्यग्दृष्टि होकर भूमिरेखादिके समान प्रत्याख्यान क्रोध आदि कषायोंके उदयका जमाव होनेपर अंतरंगमें निश्चयनयसे एकदेशराग आदिसे रहित स्वभावविक मुक्तके अनुभवलक्षण तथा शब्दमें "हिंसा, शंठ, चोरी, अद्रव्य और परिग्रह इनके एकदेशत्याग लक्षण पांच अनुभवोंमें और दर्शन, मत, सामाजिक, प्रोपध, सचिचविरत, राज्ञिभक्त, ब्रह्मचर्य, आरंभविरत, परिग्रहविरत, अनुपतिविरत तथा उद्दिष्टविरत । १ ।" इस प्रकार गाथामें कहे हुए जो श्रावकके एकादश स्थान हैं

उनमें वर्तता है वह पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक जीव होता है । ५ । वही धूलिरेखा (माटीकी रेखा) के समान अप्रत्याख्यान क्रीच आदि गृणीय कपायोंके अभाव होनेपर निश्चयनयसे अंतरंगमें राग आदिकी उपाधिसे रहित जो निज शुद्ध आत्माका ज्ञान है उससे उत्पन्न सुखामृतके अनुभव लक्षणके धारक और बाह्य विषयोंमें संतुष्ट रूपसे हिंसा, असत्य, चोरी, अन्नभक्षण और परिग्रहके त्यागरूप लक्षणके धारक पांच महत्त्वोंमें जय वर्तता है तब बुरे स्वप्न आदि प्रकट तथा अप्रकट प्रमाद सहित होता हुआ मंद पष्ठ गुणस्थानमें रहनेवाला प्रमत्त संयत होता है । ६ । वही जलरेखाके तुल्य संज्ञक कपायका मंद उदय होनेपर प्रमादरहित जो शुद्ध आत्माका ज्ञान है उसमें मन (हो) को उत्पन्न करनेवाले व्यक्त (प्रकट) तथा अव्यक्त (अप्रकट) इन दोनों प्रपञ्चोंमें वर्जित होकर सप्तम गुणस्थानवर्ती अप्रमत्त संयत होता है । ७ । वही अतीत मंजु कपायका मन्द उदय होनेपर अपूर्व परम आल्हाद रूप सुखके अनुभवलक्षण अपूर्व क्षणोंमें औपशमिक क्षपक नामका धारक अष्टम गुणस्थानवर्ती होता है । ८ । देखे हुए, सुने हुए, और अनुभव किये हुए भोगोंकी बांछादिरूप संपूर्ण संकल्प तथा विकल्परहित अपने निश्चल परमात्मस्वरूपके एकप्रधान ध्यानके परिणाममें जिन जीवोंके एक सन्न परस्पर पृथक्ता करनेमें नहीं आती वे वर्ण तथा अवयवरचनाका भेद होनेपर भी अति वृत्तिकरणौपशमिक क्षपक संज्ञाके धारक, द्वितीय कपाय आदि इक्कीस २१ भेदोंसे निश्चयार्थ इक्कीस प्रकारकी चारित्रमोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंके उपशमन और क्षणमें समनयम गुणस्थानवर्ती जीव हैं । ९ । सूक्ष्म परमात्मतत्त्वको भावनाके बलसे जो सूक्ष्म शिवागत लोभ कपायके उपशामक और क्षपक हैं वे दशम गुणस्थानवर्ती हैं । १० । परम उपशममूर्ति निज आत्माके स्वभावके ज्ञानके बलसे संपूर्ण मोहको उपशान्त करनेवाले भक्त हवें गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं । ११ । उपशमश्रेणीसे विलक्षण (भिन्नरूप) जो क्षात्रश्रेणीका मार्ग उसके द्वारा कपायोंसे रहित शुद्ध आत्माकी भावनाके बलसे क्षीण (मंद) हो गये हैं कपाय जिनके ऐसे बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं । १२ । मोहके नश्वर होनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त कालमें ही निज शुद्ध आत्माके ज्ञानरूप एकत्व वितर्क विराजित संज्ञक द्वितीय शुद्ध ध्यानमें स्थित होके उसके अंतिम समयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण तर अन्तराय इन तीनोंको एक कालमें ही सर्वथा निर्मूल करके मेघपटलसे निकले हुए सूर्य सदृश संपूर्ण रूपसे निर्मल केवलज्ञान किरणोंसे लोक तथा अलोकके प्रकाशक तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिन भास्कर (सूर्य) होते हैं । १३ । वेही मन, वचन और कर्मवर्गोंके आत्मस्वभावसे कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण जो आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्द (संचलन) का योग है उसमें रहित चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जिन होते हैं । १४ । और इसके पश्चात् निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयका कारणभूत

मयमगार मंशक जो परम यथाग्यात चारित्र है उससे पूर्वोक्त चौदह गुणस्थानोंसे रहित, ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मोंमें दूषित तथा सम्भवत्व आदि अष्ट गुणोंमें गर्भित निर्गमि (नमरगति), निर्गोत्र (गोत्ररहित) आदि अनन्त गुणसहित सिद्ध होते हैं । अपराधों शिष्य शंका करता है कि केवल ज्ञानकी उत्पत्तिमें जब मोक्षके कारणभूत रत्नत्रयकी पूर्णा हो गई तो उसी समय मोक्ष होना चाहिये, आपने जो सयोगी और अयोगी दो गुणस्थान कहे हैं इनमें रहनेका कोई समय ही नहीं है । अब इस संक्षेप परिहार कहते हैं कि केवलज्ञानोत्पत्तिमयमें यथाग्यात चारित्र तो हो गया परन्तु परम यथाग्यात नहीं है । यद्यपि दृष्टान्त यह है कि जैसे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता है परन्तु उसको चोरके भ्रमरगका दोष लगता है उसी प्रकार सयोग केवलनियोंके चारित्रिका नाश करनेवाला जो चारित्र-मोहका उदय है उसका अभाव है तथापि निष्क्रिय (कियारहित) शुद्ध आत्माके आचरणमें विलक्षण जो मन, वचन, कायरूप योगत्रयका व्यापार है वह चारित्रिके दूषण उत्पन्न करता है और तीनों योगोंमें रहित जो अयोगी जिन हैं उनके अन्तःसमयकी छोड़कर शेष चार अपातिया कर्मोंका तीव्र उदय चारित्रमें दूषण उत्पन्न करता है और अन्त्य समयमें उन अपातिया कर्मोंका मन्द उदय होनेपर चारित्रमें दोषका अभाव हो जाता है इस कारण उसी समय अयोगी जिन मोक्षको प्राप्त होते हैं । इस प्रकार चौदह गुणस्थानोंका ध्याग्यात समाप्त हुआ । अब चौदह मार्गणाओंका कथन किया जाता है । “गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्भवत्व, संज्ञा तथा आधार । १ ।” इस गायामें कथित क्रमसे गति आदि चतुर्दश मार्गणा जाननी चाहिये, वे इस प्रकार हैं, जैसे-निज आत्माकी प्राप्तिमें विलक्षण नारक, तिर्यग्, मनुष्य तथा देवगति भेदमें गतिमार्गणा चार प्रकारकी है । १ । अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंके अगोचर) जो शुद्ध आत्मतत्त्व है उसके प्रतिपक्षभूत एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय भेदसे इन्द्रियमार्गणा पांच प्रकारकी है । २ । शरीररहित आत्मतत्त्वसे भिन्न स्वरूपकी धारक पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और व्रत कायभेदसे कायमार्गणा छे प्रकारकी होती है । ३ । व्यापाररहित शुद्ध आत्मतत्त्वमें विलक्षण मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग इन भेदोंसे योग मार्गणा तीन प्रकारकी है । अथवा विश्वाससे सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, सत्यासत्यमनोयोग और सत्यासत्यमनोयोगसे विलक्षण मनोयोग इन भेदोंसे चार प्रकारका मनोयोग है । ऐसेही सत्य, असत्य, सत्यासत्य तथा सत्यासत्यविलक्षण इन चार भेदोंसे वचनयोग भी चार प्रकारका है । एवम् औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आधारक, आधारकमिश्र और कर्मण इन भेदोंसे काययोग सात प्रकारका है । सब मिलके योगमार्गणा पन्द्रह प्रकारकी हुई । ४ । वेदके उदयसे उत्पन्न होनेवाले रागादि दोषोंसे रहित जो परमात्मद्रव्य है उससे भिन्न स्वीवेद, पुंवेद और नपुं-

सकवेद इन भेदोंसे वेदमार्गणा तीन प्रकारकी है । ५ । कषायोंमें गठित शुद्ध अन्न स्वभावसे प्रतिकूल (विरुद्ध) क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन भेदोंमें चार प्रकार के कषायमार्गणा है । और विस्मयसे अनन्तानुबंधी, प्रत्याभ्यास, अप्रत्याभ्यास, तथा संतप्त भेदसे कषाय १६ और हास्यादि भेदमें नो कषाय नव ९ सब मिलके पर्याप्त २५ प्रकार के कषायमार्गणा है । ६ । मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ये पांच ज्ञान तत्त्व कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ये तीन अज्ञान गेमे ८ प्रकारकी ज्ञानमार्गणा है । ७ । सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांप्रदाय तथा यथाभ्यास भेदमें १० प्रकारकी चारित्र और संयमासंयम तथा असंयम ये दो प्रविश गेमे संयममार्गणा ११ ७ प्रकारकी है । ८ । चक्षुः, अचक्षुः, अवधि और केवलदर्शन इन भेदोंमें चार प्रकारकी है । ९ । कषायोंके उदयसे रंजित (रंगी हुई) जो काय आदि प्रवृत्ति है उससे भिन्न जो शुद्ध आत्मतत्त्व है उससे विरोध करनेवाली कृष्ण, अश्व, पीत, पीत, पद्म और शुक्ल इन भेदोंसे ६ प्रकारकी लेख्यामार्गणा है । १० । इन्द्रिय अभिव्य भेदसे भव्यमार्गणा दो प्रकारकी है । ११ । यहां शिष्य प्रश्न करता है विकल्पादि परिणामिक परमभावरूप जो शुद्ध निश्चयनय है उसकी अपेक्षासे जीव गुणक मार्गणास्थानोंसे रहित हैं" यह पूर्व प्रकरणमें आपने कहा है और अब यहां भी रूपसे मार्गणामें भी आपने पारिणामिक भाव कहा सो यह पूर्वापरविरोध है दोसे शंकाका परिहार (संडन) कहते हैं कि पूर्वप्रसंगमें तो शुद्ध पारिणामिक भाव गुणस्थान और मार्गणास्थानका निषेध किया है और यहां अशुद्ध पारिणामिक भव्य तथा अभव्य ये दोनों मार्गणामें भी कहे हैं सो नयभेदसे यह कथन घटत परम ही है । अब कदाचित् यह कहो कि "शुद्ध अशुद्ध भेदसे पारिणामिक भाव दो के नहीं हैं किन्तु पारिणामिक भाव शुद्ध ही है" सो योग्य नहीं; क्योंकि, यद्यपि सामान्यता उत्सर्गव्याख्यानसे पारिणामिक भाव शुद्ध है ऐसा कहा जाता है तथापि अपवाद व्याख्यानसे अशुद्ध पारिणामिक भाव भी है । इसी हेतुसे "जीवभव्याभव्यत्वानि च" अ. २ सू. ७) इस तत्त्वार्थसूत्रमें जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व इन भेदोंसे पारिणामिक भावको तीन प्रकारका कहा है । उनमें शुद्ध चैतन्यरूप जो जीवत्व है वह अविनाश होनेसे शुद्ध द्रव्यके आश्रित है इस कारणसे शुद्ध द्रव्यार्थिकनामा शुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है । और जो कर्मसे उत्पन्न दण्ड प्रकारके प्राणों स्वरूप है वह जीवत्व, भव्य तथा अभव्यत्व भेदसे तीन प्रकारका है और ये तीनों विनाशशील होनेसे पर्यायके आश्रित हैं इसलिये पर्यायार्थिक संज्ञक अशुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है । "इसकी अशुद्धता किम प्रकारमें कहते हो" ऐसा कहो तो उत्तर यह है कि यद्यपि ये तीनों अशुद्ध पारिणामिक व्यवहारनयसे संमारी जीवमें हैं तथापि "सन्धे मुद्रा ह मुद्रणया" १२

वचनसे ये तीनों भाव शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे नहीं है, और मुक्त जीवमें तो सर्वथा ही नहीं है; इसी कारण उनकी अशुद्धता कही जाती है । उन शुद्ध तथा अशुद्ध पारिणामिक भावोंमेंसे जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह ध्यानके समयमें ध्येय (ध्यान करनेके योग्य) रूप होता है और ध्यानरूप नहीं होता । क्योंकि, ध्यान पर्याय विनाशशील है और ध्येयरूप सदा अविनाशी रहता है । कारण कि वह द्रव्यरूप है यह भावार्थ है । औपगमिक, धापो-पगमिक तथा क्षायिक सम्यक्त्वके भेदसे सम्यक्त्वमार्गणा तीन प्रकारकी है । तथा मिथ्या-दृष्टि, साक्षादन और मिथ्र इन तीनों विपक्ष भेदोंसहित छे प्रकारकी भी सम्यक्त्वमार्गणा जाननी चाहिये । १२ ॥ संज्ञित्व तथा असंज्ञित्वसे विलक्षण जो परमान्माका स्वरूप है उससे भिन्न संज्ञी तथा असंज्ञी भेदसे दो प्रकारकी संज्ञिमार्गणा है । १३ । और आहारक तथा नाहारक जीवके भेदसे आहारमार्गणा भी दो प्रकारकी समझनी चाहिये । १४ । ऐसे दो मार्गणाओंका स्वरूप जानना योग्य है । इस रीतिसे “पुढविक्कन्नेयवाऊ” इत्यादि दो धाओँसि और तीसरी गाथा जो “णिक्कम्मा अट्टगुणा” इत्यादि है उसके तीन पादेमि एक जीवा पञ्चटी पाणामण्णायमग्गणाउय । उवओगो विप कमसो बीमं तु पक्खणा भणिपा” यदि गाथामें कहा हुआ स्वरूप पवल, जयपवल और महापवल प्रबंध नामक जो तीन शब्द हैं उनके बीज पदकी सूचना प्रथकारने की और “सव्वे सुद्धा तु सुद्धयया” इस पाद गाथाके बांधे पादद्वारा शुद्ध आत्मतत्त्वको प्रकाश करनेवाले जो पंचानिकाय, प्रव-सार तथा समयसार नामक तीन प्राभूत (पादुद) हैं उनका भी बीजपद सूचित किया । गुणस्थान और मार्गणाओंके मध्यमें केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों तथा यिक सम्यक्त्व और अनाहारक शुद्ध आत्माका स्वरूप ये तो गाथान् उपादेय है और शुद्ध आत्माका सम्यक् यद्दान, ज्ञान और आचरण करनेरूप लक्षणका धारक कारण समयसार है वह उसी पूर्वोक्त उपादेय भूतका विवक्षित एकदेश शुद्धनयने गाथक है इस-लिये परंपरासे उपादेय है, इनके विना सब त्याग्य है; और जो अध्यात्ममार्गका बीज पदभूत शुद्ध आत्माका स्वरूप है वह तो उपादेय ही है । इस प्रकारसे जीवाधिकारके मध्यमें शुद्ध तथा अशुद्ध जीवके कथनकी मुख्यतारूप जो सप्तम स्थल है उसमें तीन गाथा समाप्त हुई ॥ १३ ॥

अधेशानी गाथापूर्वाद्धेन सिद्धस्वरूपमुत्तराद्धेन पुनरुपगमिस्त्वभावं च कथयति ।

अब इसके पश्चात् गाथाके पूर्वार्द्धमें तो सिद्धोंके स्वरूपका और उत्तरार्द्धमें उनका जो उर्द्धगमन स्वभाव है उसका कथन करते हैं ।

णिक्कम्मा अट्टगुणा किंचूणा परमदेहदो सिद्धा ।

लोपगगठिदा णिणा उप्पादयण्हि मंजुष्सा ॥ १४ ॥

गाथाभावार्थः—जो जीव ज्ञानावरणादि आठ बन्धोंमें रहित है, सम्बन्ध व्यर्थ अट्ट

शरीरेणावृतास्तिष्ठन्ति ततः कारणात्प्रदेशानां संहारो न भवति, विस्तारश्च शरीरनामकर्मा-
धीन एव न च स्वभावत्वेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति । अपरमप्युदाहरणं
दीयते—यथा हन्तुचतुष्टयप्रमाणवत्त्वं पुरुषेण मुष्टौ बद्धं तिष्ठति पुरुषाभावे सङ्कोचविस्तारौ
वा न करोति, निष्पत्तिकाले सार्द्धं सूक्ष्मयमाजनं वा शुष्कं सञ्जलाभावे सति; तथा जीवोऽपि
पुरुषस्थानीयजलस्थानीयशरीराभावे विस्तारसंकोचौ न करोति । यत्रैव मुक्तस्तत्रैव तिष्ठ-
तीति ये केचन यदन्ति तन्निषेधार्थं पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथा गतिपरिणामाच्चेति हेतु-
चतुष्टयेन तथैवाविद्वकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाम्बुबदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्चेति दृष्टान्त-
चतुष्टयेन च स्वभावोद्भूतगमने ज्ञातव्यं तच्च लोकाप्रपञ्चन्तमेव न च परतो धर्मास्तिकायाभावा-
दिति । नित्या इति विशेषणं तु मुक्तात्मनां कल्पशतप्रमितकाले गते जगति शून्ये जाते सति
पुनरागमनं भवतीति सदाशिववादिनो यदन्ति तन्निषेधार्थं विशेष्यम् । उत्पादव्ययसंयुक्तत्वं
विशेषणं सर्वसंसारिणामित्वनिषेधार्थमिति । किञ्च विशेषः निश्चलाबिनश्वरगुणात्मस्वरूपा-
द्विभं सिद्धानां नारकादिरातिषु भ्रमणं नास्ति कथमुत्पादव्ययत्वमिति । तत्र परिहारः । आग-
मकथितागुरुलघुपदस्थानपतितहानिपृष्टिरूपेण येऽर्थपर्यायास्तदपेक्षया अथवा येन येनोत्पा-
दव्ययप्रौढ्यरूपेण प्रतिक्षणं श्रेयसदायाः परिणमन्ति तत्परिच्छिद्यत्वाकारेणानीहितवृत्त्या सिद्धज्ञा-
नमपि परिणमति तेन कारणेनोत्पादव्ययत्वम्, अथवा व्यञ्जनपर्यायापेक्षया संसारपर्यायवि-
नाशः, सिद्धपर्यायोत्पादः, शुद्धजीववृत्त्यत्वेन प्रौढ्यमिति । एवं नयविभागन नवाधिकारै-
र्जीववृत्त्यं ज्ञातव्यम्, कथवा तदेव बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मभेदेन त्रिधा भवति । तद्यथा—
स्वशुद्धात्मसंविचितसमुत्पन्नबालबभ्रुसुराप्रतिपक्षभूतेनेन्द्रियमुखेनासक्तो बहिरात्मा, तद्विच्छि-
न्नोऽन्तरात्मा । अथवा देहरहितनिजशुद्धात्मद्रव्यभावनालक्षणभेदज्ञानरहितत्वेन देहादिपर-
द्रव्येष्वेकत्वभावनापरिणतो बहिरात्मा, तस्मात्प्रतिपक्षभूतोऽन्तरात्मा । अथवा हेयोपादव्य-
विचारकचित्तनिर्दोषपरमात्मनो भिन्ना रागादयो दोषाः शुद्धचित्तव्यवस्थेन आत्मन्युत्पल्लवेषु
चित्तदोषात्मसु त्रिषु धीतरागसर्वज्ञप्रणीतेषु अन्येषु वा पदार्थेषु यस्य परस्परसापेक्षनयविभा-
गेन भद्धानं ज्ञानं च नास्ति स बहिरात्मा, तस्माद्विसृष्टोऽन्तरात्मेति रूपेण बहिरात्मान्त-
रात्मनोर्लक्षणं ज्ञातव्यम् । परमात्मलक्षणं कथ्यते—सकलविमलकैवलजानेन येन कारणेन
समस्तं लोकालोकं जानाति व्याप्नोति तेन कारणेन विष्णुर्भण्यते । परमब्रह्मसंज्ञनिजशुद्धा-
त्मभावनासमुत्पन्नसुरामृततृप्त्य सत उर्वशीरम्भातिलोत्तमाभिर्देवकन्याभिरपि कस्य मद्यच-
र्षप्रतं न राण्डितं स परमब्रह्म भण्यते । कैवलज्ञानादिगुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि
सत्पदामिलापिणः सन्तो यस्याज्ञां कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति । कैवलज्ञानशब्दवाच्यं
गतं ज्ञानं यस्य स मुगतः, अथवा शोभनमबिनश्वरं मुक्तिपदं गतः मुगतः । “तिबे परम-
कल्याणं निर्वाणं ज्ञानमक्षयम् । प्राप्ते मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः । १ ।” इति श्लोक-
कथितलक्षणः शिवः । कामत्रोषादिदोषजयेनानन्तज्ञानादिगुणसहितो जिनः । इत्यादिपरमा-
गमकथिताष्टोत्तरमद्वयसंख्यनामवाच्यः परमात्मा ज्ञातव्यः । एकमेतेषु त्रिविधमनु मध्ये
मिथ्यादृष्टिभव्यजीवे बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण तिष्ठति, अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण
भाविनैगमनयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च । अभव्यजीवे पुनर्बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण अन्तरात्म-
परमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव न च भाविनैगमनयेनेति । यद्यभव्यजीवे परमात्मा शक्तिरूपेण

वर्तते तर्हि कथमभ्यस्तमिति चेन् परमात्मज्ञानेः केवलज्ञानादित्येन व्याप्तिर्न मर्हति
 त्वभ्यस्तत्वं शक्तिः पुनः शुद्धनयेनोपपन्नः समाना । यदि पुनः शक्तिरूपेणाभ्यस्तमने
 केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न पटते । मध्यामव्यवस्थं पुनरशुद्धनयेनैव
 चार्थः । एवं यथा मिथ्यादृष्टिर्मेते बहिरात्मानं नयतिमागेन दृष्टितमात्मप्रयं तथा योग्य
 नेत्यपि । तद्यथा—बहिरात्मावस्थायामन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण मानिगमनयेन स्वी
 रूपेण च विभेद्यम्, अन्तरात्मावस्थायां तु बहिरात्मा भूतपूर्वव्याप्येन घृतपटवत्, परमात्मत्वा
 तु शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्याप्तिरूपेण च । परमात्मावस्थायां पुनरन्तरात्मव्याप्येन
 भूतपूर्वव्याप्येनैति । अथ त्रिधात्मानं गुणव्यानेषु योजयति । मिथ्या मामादनमिमगुणव्याने
 सारतम्यन्यूनाधिकभेदेन बहिरात्मा ज्ञानव्यः, अविरतगुणव्याने सयोग्यानुभवेष्ट्यावरित
 जपन्यान्तरात्मा, क्षीणकपायगुणव्याने पुनरन्तः, अविरतभीनकपाययोर्मध्ये मध्य
 सयोग्ययोगिगुणव्याने द्वये विवक्षितैरुद्देशशुद्धनयेन सिद्धसदृशः परमात्मा, सिद्धस्तु मह
 स्परमात्मेति । अत्र बहिरात्मा इयः, उपादेयभूतव्यानेनन्मुगसायकत्वादन्तरात्मोभावे
 परमात्मा पुनः साक्षादुपादेय इत्यभिप्रायः । एवं 'यद्द्रव्यपञ्चात्मिकायप्रतिपादकप्रक
 षिकारमध्ये नमस्कारादिचतुर्दशगाथाभिर्नवभिरन्तरस्यैर्जीवद्रव्यकथनरूपेण प्रयोज्यते
 धिकारः समाप्तः ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थः—“सिद्धा”सिद्ध होते हैं इस रीतिसे यहां “भवन्ति” इस किंचि
 अध्याहार करना चाहिये । किन् विशेषणोंसे विशिष्ट सिद्ध होते हैं “किञ्चिन्मा अहं
 किञ्चूणा चरमदेहदो” कर्मांसे रहित आठ गुणोंसे सहित तथा अन्तिम शरीरसे किञ्चि
 ऊन (कुछ छोटे) ऐसे सिद्ध होते हैं । इस प्रकार सूत्रके पूर्वार्द्धमें सिद्धोंका स्वरूप कहा
 अब उनका ऊर्ध्वगमन स्वभाव कहते हैं । “लोयमादिद्रा णिचा उप्पादवयेहि संजुवा
 और ये सिद्धलोकके अग्रभागमें स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद और व्यय इनसे संजु
 हैं ॥ अब यहांसे विस्तारपूर्वक इस गाथाकी व्याख्या करते हैंः—कर्मरूपी शत्रुओंके नि
 ध्वंस करनेमें समर्थ अपने शुद्ध आत्माके बलसे ज्ञानावरण आदि समस्त मूल प्रकृति की
 उत्तरप्रकृतियोंके बिनाशक होनेसे अष्टविध कर्मांसे रहित सिद्ध होते हैं । तथा “सम्पन्न
 ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु और अन्यायाद्य ये आठ गुण सिद्धों
 होते हैं,” इस गाथोक्त कमसे उन अष्टकर्मरहित सिद्धोंके आठ गुण कहे जाते हैं । जो
 उन गुणोंको विस्तारसे दर्शाते हैंः—केवलज्ञान आदि गुणोंका स्थानरूप जो निज शुद्ध
 आत्मा है वही ब्रह्म है इस प्रकारकी स्वरूप निश्चयसम्यक्त्व जो कि पहले तपश्चर्य
 करनेकी अवस्थामें उत्पादित किया था उसका फलभूत, समस्त जीव आदि तत्त्वोंके वि
 ममें विपरीत अभिनिवेश (जो पदार्थ जिसरूप है उसके विरुद्ध आग्रह)से शून्य परिणाम
 रूप परम सायिक सम्पक्त्व नामा प्रथम गुण सिद्धोंके कहा जाता है । पूर्व कालमें छद्म
 अवस्थामें भावनागोचर किये हुए विकाररहित स्थानुमवरूप ज्ञानका फलभूत पदार्थ

समयमें लोक तथा अलोकके संपूर्ण पदार्थोंमें प्राप्त हुए विज्ञेयोंको जाननेवाला दूसरा केवल-
ज्ञाननामा गुण है । संपूर्ण विकल्पोंसे शून्य निजशुद्ध आत्माकी मत्ताका अवलोकन (दर्शन)
जो पहले दर्शन भावित किया था उसी दर्शनका फलमूल, एक कालमें ही लोक अलो-
कके संपूर्ण पदार्थोंमें प्राप्त हुए सामान्यको ग्रहण करानेवाला केवलदर्शन नामा तृतीय गुण
६ । अतिघोर परीपह तथा उपसर्ग आदिके आनेके समयमें जो पहले अपने निरंजन पर-
मात्माके ध्यानमें धैर्यका अवलम्बन किया उसीका फलमूल अनन्त पदार्थोंके ज्ञानमें स्वेदके
अभावरूप लक्षणका धारक चतुर्थ अनन्तवीर्यनामक गुण है । सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवल-
ज्ञानका विषय होनेसे मिट्टीके स्वरूपको सूक्ष्म कहते हैं । यह सूक्ष्मत्व पंचम गुण है । एक
दीपके प्रकाशमें जैसे अनेक दीपोंके प्रकाशका समावेश हो जाता है उसी प्रकार एक
मिट्टीके क्षेत्रमें संकर तथा व्यतिकर दोषके परिहार पूर्वक जो अनन्त मिट्टीको अवकाश
देनेका सामर्थ्य है वही छटा अवगाहन गुण कहा जाता है । यदि मिट्टीस्वरूप सर्वथा
गुरु (भारी) हो तो लोहपिंडके समान उसका अधःपतन (नीचे गिरना) ही होना
रहे और यदि सर्वथा लघु (हलका) हो तो वायुसे साहित आकाशकी रईके समान
उसका निरन्तर भ्रमण ही होता रहे, परन्तु सिद्धस्वरूप ऐसा नहीं है इसलिये सान्ना
अगुरुलघुगुण कहा जाता है । स्वभावसे उत्पन्न और शुद्ध जो आत्मस्वरूप है उसमें
उत्पन्न तथा राग आदि विभावोंसे रहित ऐसे सुखरूपी अमृतका जो एकदेश अनुभव
पहले किया उसीका फलरूप अव्याबाध अनन्त सुख नामक अष्टम गुण सिद्धोंमें कहा
जाता है । ये जो सम्पत्तय आदि अष्ट गुण कहे गये हैं सो मध्यमरुचिके धारक शिष्योंके
लिये हैं और विन्नारमें मध्यमरुचिके धारक शिष्यके प्रति तो विशेष भेदनयका अवलम्बन
करनेमें गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितत्व, योगरहितत्व, वेदरहितता, कषाय-
रहितत्व, नामरहितत्व, गोत्ररहितत्व तथा आयुरहितत्व आदि विशेष गुण और इनी
प्रकार अस्मिन्, यस्तुत्वं, प्रमेयत्वादि सामान्य गुण ऐसे अपने जैनागमके अनुसार अनन्त
गुण जानने चाहिये । और संक्षेपरुचि शिष्यके प्रति तो विवक्षित अभेद नयमें अनन्त
ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त धैर्य ये चार गुण जयका अनन्त ज्ञान,
दर्शन सुखरूप तीन गुण या केवल ज्ञान और केवल दर्शन ये दो गुण हैं और साक्षात्
अभेदनयसे शुद्ध चैतन्य यह एक ही गुण सिद्धोंका है । पुनः वे सिद्ध कैसे हैं इसलिये
कहते हैं कि वे सिद्ध परम (अन्तर्के) शरीरमें कुछ छोटे होते हैं और वह जो किंचिद्
ऊनता है सो शरीराहोपाह्वयमें उत्पन्न मासिका आदि छिद्रोंके अपूर्ण होनेपर त्रिम
क्षणमें सधोर्गिके अन्त समयमें त्रिशत् मृत्तवियोंके उदयका नाश हुआ उनमें शरीरागोपाग
कर्मका भी विच्छेद होगया अतः उसी समय हुआ है यह जानना चाहिये । अब यदि
कोई शंका करता है कि जैसे दीपके आवरण करनेवाले पात्र आदिके हटानेमें उस

दीपकके प्रकाशका विस्तार हो जाना है उसी प्रकार देहका अभाव होनेपर सिद्धोंका लोकप्रमाण होना चाहिये । अब इसका परिहार कहते हैं—जो यह दीपकमेंवैसी प्रकाश विस्तार है वह तो पहले स्वभावमें ही दीपकमें रहता है और पीछे उम दीपकमें बल होता है; और जीवके तो लोकमात्र अमंगलान् प्रदेशत्व स्वभाव है और जो प्रदेशके विस्तार है वह स्वभाव नहीं है, कदाचित् यह कहो कि जीवके पहले लोकमात्र में विस्तृत हुए आवरणरहित रहते हैं और फिर जैसे प्रदीपके आवरण होना है वैसेही जैस प्रदेशोंके भी आवरण हुआ है; सो नहीं, किन्तु जीवके प्रदेश तो पूर्वकालमें ही अनादिकालसे सन्तानरूप चले आये हुए शरीरसे आवरणसहितही रहते हैं । इस हेतुमें जैसे प्रदेशोंका संहार तथा विस्तार शरीर नामक नामकर्मके आधीनही है और जीवका स्वभाव नहीं है इस कारणसे जीवके शरीरका अभाव होनेपर प्रदेशोंका विस्तार नहीं होता है । इस विषयमें और भी उदाहरण देते हैं कि जैसे पुरुषकी मूर्तिमें चार हाथका बल है हुआ है, अब वह बल यदि पुरुष हो तब ही तो उसकी प्रेरणासे संकोच व विस्तार कर सकता है और पुरुषके अभावमें संकोच तथा विस्तार नहीं कर सकता; जैसा उम पुत्र छोड़ा वैसाही रहता है । अथवा गीला मृत्तिकाका भाजन बनते समय तो संकोच व विस्तारको प्राप्त हो जाता है और जब वह शुष्क हो जाता है तब जलका अभाव होनेसे संकोच व विस्तारको नहीं प्राप्त होता है इसी प्रकार जीव भी पुरुषके स्थानपर अथवा जलके स्थानभूत शरीरके अभावमें संकोच विस्तारको नहीं प्राप्त होता है । अतः कितनेही कहते हैं कि “जीव जिस स्थानमें कर्मसे मुक्त होता है वहांही रहता है,” इसे निषेधके लिये कहते हैं । पूर्वप्रयोगसे, असंग होनेसे, बंधका नाश होनेसे तथा गतिके दृष्टिगामसे ऐसे इन चार हेतुओंसे जीवका ऊर्ध्व गमन जानना चाहिये अथवा अमते हुए कुलाल (कुंभकार) के चाककी सदृश, मृत्तिकाके लेपरहित तुंबीके सदृश, परंडके नीचे तुल्य, अथवा अग्निही गिलाके समान, इन चार दृष्टान्तोंसे जीवके स्वभावसे ऊर्ध्व गमन जानना चाहिये और वह ऊर्ध्व गमन भी लोकके अग्रभागतक ही होता है और इसके आगे नहीं; क्योंकि, वहां धर्मास्तिकायका अभाव है । सिद्ध नित्य हैं । यहांपर जो निषेध विशेषण है सो सदाशिववादी यह कहते हैं कि “१०० कल्प प्रमाण समय व्यतीत होने पर जब जगत् शून्य हो जाता है तब फिर उन मुक्त जीवोंका संसारमें आगमन होता है” इस मतका निषेध करनेके लिये है ऐसा समझना चाहिये । सिद्ध उत्पाद तथा व्यय युक्त है । यहां जो उत्पाद व्यय संयुक्तपणा सिद्धोंका विशेषण कहा है वह सर्वथा अनिगामिताके निषेधके लिये है । यहांपर विशेष यह है कि कोई शंका करे कि सिद्ध तो निरन्तर निश्चल तथा विनाशरहित जो शुद्ध आत्माका स्वरूप है उसीमें रमते हैं, उनमें भिन्न जो नरक आदि गतियोंमें भ्रमण करना है वह सिद्धोंके नहीं है इसलिये सिद्धों

५ तथा व्यय कैसे मानते हो? इस शंकाका परिहार यह है कि आगममें कहे हुए जो
 ६ आदि पद स्थानोंमें पड़े हुए हानिवृद्धि स्वरूपमें अर्थ पर्याय हैं उनकी अपे-
 ७ उत्पाद व्यय है। अथवा जिस जिस उत्पाद व्यय औध्यरूपसे प्रति समय
 ८ पदार्थ परिणमते हैं उन उनकी परिच्छित्तिके आकारसे निरिच्छक (इच्छारहित)
 ९ सिद्धोंका ज्ञान भी परिणमता है इस कारणसे उत्पाद व्यय है। अथवा सिद्धोंमें व्य-
 १० पर्यायकी अपेक्षासे संसार पर्यायका नाश, सिद्ध पर्यायका उत्पाद तथा शुद्ध जीव द्रव्य-
 ११ औध्य है। ऐसे नव विभागसे नौ अधिकारोंद्वारा जीव द्रव्यका स्वरूप जानना
 १२ है। अथवा वही जीवात्मा बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा इन भेदोंसे तीन
 १३ होता है। वह इस प्रकार है—निजशुद्ध आत्माके ज्ञानसे उत्पन्न जो पारमार्थिक
 १४ (यथार्थ) मुख उससे विरुद्ध जो इन्द्रियमुख उसमें आसक्त बहिरात्मा है; उससे
 १५ विलक्षण अन्तरात्मा है। अथवा देहरहित जो निजशुद्ध आत्मा रूप द्रव्य, उस आत्म-
 १६ द्रव्यकी भावनारूप जो भेद ज्ञान है, उससे रहित होनेके कारण देह आदिपर (अन्य)
 १७ जो एकत्व भावनासे परिणत है अर्थात् देह आदिमें यह भावना करता है कि देह
 १८ में ही हूँ वह बहिरात्मा है। और इस बहिरात्मासे विरुद्ध अर्थात् निजशुद्ध आत्मा-
 १९ आत्मा जाननेवाला अन्तरात्मा है। अथवा हेय तथा उपादेयका विचार करनेवाला
 २० जो चित तथा निर्दोष परमात्मासे भिन्न राग आदि दोष और शुद्ध चैतन्यरूप लक्षणका
 २१ धारक आत्मा ऐसे इन पूर्वाक्त लक्षणोंके धारक जो चित, दोष और आत्मा हैं इन तीनोंमें
 २२ अथवा बीतराग सर्वज्ञकथित अन्य पदार्थोंमें जिसके परस्पर अपेक्षाके धारक नयोंके विभा-
 २३ गसे श्रद्धान और ज्ञान नहीं है वह बहिरात्मा है और उस बहिरात्मामें भिन्न लक्षणका
 २४ धारक अन्तरात्मा है, इस प्रकार बहिरात्मा और अन्तरात्माका लक्षण जानना चाहिये। अब
 २५ परमात्माका लक्षण कहते हैं—संपूर्ण तथा निर्मल ऐसे केवलज्ञान द्वारा जिस कारणसे
 २६ समस्त लोक अलोकको जानता है अर्थात् व्याप्त होता है, इस हेतुसे वह परमात्मा बिन्दु
 २७ कहाता है। परब्रह्म नामक निजशुद्ध आत्माकी भावनामें उत्पन्न मुरागृतमें घूम होनेसे
 २८ उर्वशी, तिलोत्तमा तथा रमा आदि देवकन्याओंने भी जिसके प्रसन्नचर्य प्रतकी स्मृति न
 २९ किया वह परम ब्रह्म कहालाता है। केवल ज्ञान आदि गुणरूप ऐश्वर्य युक्त होनेसे जिसके
 ३० पदकी अभिलाषा (चाह) करते हुए देवोंके इन्द्र आदि भी जिसकी आज्ञाका पालन करते
 ३१ हैं, इसलिये वह परमात्मा ईश्वर इस नामका धारक होता है। केवल ज्ञान इस शब्दमें
 ३२ वाच्य (कहने योग्य) है सु (उत्तम) गत (ज्ञान) जिसका वह सुगत है। अथवा सु
 ३३ कहिये शोभायमान अविनश्वर (नाशरहित) मुक्तिके स्थानको जो प्राप्त हुआ सो सुगत
 ३४ है। तथा “शिव कहिये शान्त, अक्षय और परम वस्त्याणरूप निर्वाण मुक्तिपदको जिसने
 ३५ प्राप्त किया वह शिव कहालाता है। १।” इस श्लोकमें बड़े हुए लक्षणका धारक होनेसे

: गाथाओंसे नव ९ अन्तर (मध्य) स्थलोंद्वारा जीव द्रव्यके कथन रूपमें प्रथम
र अधिकार समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

तत्परं यद्यपि शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मद्रव्यमुपादेयं भवति तथापि हेयरूपस्याजीव-
स्य गाथाएकेन व्याख्यानं करोति । कस्मादिति चेन्—हेयतत्त्वपरिज्ञानं मत्रि पश्चाद्बु-
द्धीकारो भवतीति हेतोः । तद्यथा—

अथ इसके पश्चात् यद्यपि शुद्ध बुद्ध एक स्वभावका धारक परमात्मा द्रव्यही उपदेय है
पे हेयरूप जो अजीव द्रव्य है उसका जाठ (गाथाओंद्वारा व्याख्यान निरूपण) करने
क्योंकि, पहले हेयतत्त्वका ज्ञान होनेपर पीछे उपदेय पदार्थका स्वीकार होना है । यह
सकार है,—

अग्नीषो पुण जेओ पुग्गलपम्मो अधम्म आघासं ।

कालो पुग्गल मुत्तो रूपादिगुणो अमुत्ति सेस्ताह ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—और पुद्गल, धर्म, अपरम, आकाश तथा काल इन पाँचोंको अजीव
तो एकता चाहिये. इनमें पुद्गल तो मूर्तमान है. क्योंकि, रूप आदि गुणोंका धारक है.
ही है । (बाकी) के चारों अमूर्त है ॥ १५ ॥

जो कहा । “अग्नीषो पुण जेओ” अजीवः पुनर्हेयः । सकलविमलकेवलज्ञानदत्तानन्दं ह्यु-
त्था । मतिज्ञानादिरूपो विषयोल्लङ्घ्योपयोग इति द्विविधोपयोगः, अथवागुणरुप-
त्वात् । कर्मफलचेतना, तथैव मतिज्ञानादिरूपः पर्ययपर्यन्तमल्लङ्घ्योपयोग इति, अन्वयार्थ-
विमल-रूपरूपेण विशेषरताद्वैतपरिणामनं कर्मचेतना, केवलज्ञानरूपा शुद्धचेतना ह्युप-
गच्छेत्तना च यत्र नास्ति न भवत्यजीव इति विवेकः । पुनः पश्चाग्नीषाधिकारानन्तरं
न अग्नी-मो अधम्म आघासं कालो” स च पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्यभेदेन पञ्चधा ।
नाना-रूपभावात्पुद्गल इत्युच्यते । मतिस्थित्यवगाहवर्जनालक्षणा धर्माधर्माकाशकाला-
न्वय-पुद्गलो मूर्तः । कस्मान् “रूपादिगुणो” रूपादिगुणरहितो यतः । “अमुत्ति सेस्ता
रूपादिगुणाभावादमूर्ता भवन्ति पुद्गलान्तेषामन्वार इति । तथाहि यथा अनन्तज्ञानदर्शन-
वीर्यगुणधनुष्यं सर्वजीवसाधारणं तथा रूपरसगन्धस्पर्शगुणधनुष्यं सर्वपुद्गलसाधारणं,
च शुद्धबुद्धैकस्वभावसिद्धजीवं अनन्तधनुष्यमसीन्द्रियं तथैव शुद्धपुद्गलपरमाणुद्रव्ये
द्विधधनुष्यमसीन्द्रियं, यथा शार्गादिशब्दगुणेन कर्मबन्धावस्थायां ज्ञानाद्विधधनुष्यस्या-
र्थ तथा शार्गादिशब्दगुणेन श्रुत्याद्विधधन्वावस्थायां रूपाद्विधधनुष्यस्याशुद्धत्वं, यथा नि-
लसमात्मभावनाबलेन शार्गादिशब्दविनाशो गत्यनन्तधनुष्यस्य शुद्धत्वं तथा जप-
णानां बन्धो न भवतीति वचनात्परमाणुद्रव्ये शार्गाद्विधधनुष्यस्य अन्यत्वे इति रूपा-
धनुष्यस्य शुद्धत्वमवबोद्धव्यमित्याशयः ॥ १५ ॥

व्याख्यानार्थः अथ जीवविचारके अनन्तर “अग्नीषो पुण जेओ” अजीव पदार्थको
मान्य करके ज्ञानन चर्चा है । अथवा रूपमें विमल अर्थात् सर्वत्र द्रव्य

प्रकाशके केवल ज्ञान तथा दर्शन ये दोनों शुद्ध उपयोग हैं और मतिज्ञान आदिरूप अशुद्ध उपयोग है, इस रीतिसे शुद्ध तथा अशुद्ध भेदसे उपयोग दो प्रकारका है, व्यक्त (अस्पष्ट) सुखदुःखानुभव स्वरूप कर्मफलचेतना तथा मतिज्ञानसे आदि लेके पर्यय पर्यन्त चारों ज्ञानरूप अशुद्ध उपयोग तथा निजचेष्टापूर्वक इष्ट तथा अनिष्ट तत्संपूर्ण रागद्वेष रूपसे जो परिणाम हैं वह कर्मचेतना है, केवल ज्ञानरूप शुद्ध उपयोग इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणका धारक उपयोग तथा चेतना ये जिसमें नहीं हैं वह अजीव इस प्रकार जानना चाहिये । “पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं कालो” और वह अजीव पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यके भेदसे पांच प्रकारका है । पूरण तथा गलन सहित होनेसे पुद्गल फहा जाता है, अर्थात् पूर्ण करने और छीजनेका स्वभाव जिसमें है पृथिवी आदि सब पुद्गल पर्याय है । तथा क्रमसे गति, स्थिति, अवगाह और वर्तन लक्षण सहित धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चारों द्रव्य हैं; अर्थात् गतिलक्षण स्थितिलक्षण अधर्म, अवगाह देनेके लक्षणका धारक आकाश तथा वर्तना लक्षण कालद्रव्य है । “पुग्गल मुत्तो” पुद्गल मूर्त है । क्योंकि, वह “रूपादिगुणो” रूप गुणोंसे सहित है । “अमुत्ति सेसा हु” पुद्गलके विना बाकी धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों रूप आदि गुणोंका अभाव होनेसे अमूर्त हैं । जैसे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य ये चारों गुण सब जीवोंमें साधारण हैं; उसी प्रकार रूप, रस, गंध तथा स्पर्श ये चार गुण सब पुद्गलोंमें साधारण हैं । और जैसे शुद्ध पुद्गल एक स्वभावके धारक सिद्ध जीवमें अनन्त चतुष्टय अतीन्द्रिय है; उसी प्रकार शुद्ध पुद्गल परमाणु द्रव्यमें रूप आदि चतुष्टय अतीन्द्रिय है । जैसे राग आदि श्रेष्ठ गुणसे कर्मवशात् बन्धामें ज्ञान, दर्शन, सुख तथा वीर्य इन चारोंकी अशुद्धता है; उसी प्रकार श्लिष सूक्ष्म गुणसे श्लिष आदि बंधावस्थामें रूप आदि चतुष्टयकी अशुद्धता है । जैसे श्रेष्ठरहित पिण्ड परमाण्वाका भावनाके बन्धमें राग आदि श्लिषताका भिनाश होनेपर अनन्त चतुष्टय शुद्ध है; वैसे “जपन्य गुणोंका बन्ध नहीं होता है” इस वचनसे परमाणु द्रव्यमें श्लिष गुणकी जपन्यता होनेपर रूप आदि चतुष्टयका शुद्धत्व समझना चाहिये, न अनिष्ट है ॥ १५ ॥

अथ पुद्गलद्रव्यस्य विभावय्यजनपर्यायान्प्रतिपादयति ।

अथ पुद्गल द्रव्यके विभाव ध्वजन पर्यायोंका प्रतिपादन करने है ।

ध्यात्वा—शब्दवन्धसौक्ष्म्यसौख्यसंस्थानभेदतमः शब्दायातपोऽन्योतमहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया भवन्ति । अयं विस्तारः—भाषात्मकोऽभाषात्मकश्च द्विविधः शब्दः । तत्राक्षरानक्षरात्मकभेदेन भाषात्मको द्विधा भवति । तत्राप्यक्षरात्मकः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशपैशाचिकादिभाषाभेदेनार्यम्लेच्छमनुज्यादिव्यवहारहेतुर्बहुधा । अनक्षरात्मकस्तु द्वीन्द्रियादितिर्यग्जीवेषु सर्वशदिव्यध्वनौ च । अभाषात्मकोऽपि प्रायोगिकवैश्वसिकभेदेन द्विविधः । “तत्तं वीणादिकं शैवं विततं पटहादिकम् । घनं तु कांस्यवालादि वशादि सुपिरं विदुः । १ ।” इति श्लोककथितक्रमेण प्रयोगे भवः प्रायोगिकश्चतुर्धा भवति । विश्रसा स्वभावेन भवो वैश्वसिको मेधादिमभवो बहुधा । किञ्च शब्दातीतविजपरमात्मभावनान्युतेन शब्दादिमनोक्षामनोऽप्येन्द्रियविपर्यासकेन च जीवेन यदुपाजितं सुस्वरदुःस्वरनाभकर्म तदुदयेन यद्यपि जीवे शब्दो दृश्यते तथापि स जीवसंयोगेनोत्पन्नत्वाद् व्यवहारेण जीवशब्दो भण्यते, निश्चयेन पुनः पुद्गलस्वरूप एवेति । बन्धः कथ्यते—सृष्टिपण्डादिरूपेण योऽसौ बहुधा बन्धः स केवलः पुद्गलबन्धः, यस्तु कर्मनोऽकर्मरूपः स जीवपुद्गलसंयोगबन्धः । किञ्च विशेषः—कर्मबन्ध-पृथग्भूतस्य शुद्धात्मभावनादहितजीवस्यानुपचरितसंज्ञतव्यवहारेण द्रव्यबन्धः, तथैवाशुद्धनिश्चयेन योऽसौ रागादिरूपो भावबन्धः कथ्यते सोऽपि शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलबन्ध एव । पितृव्यापेक्षया यदरादीनां सूक्ष्मत्वं, परमाणोः साक्षादिति । यदरापेक्षया वित्वादीनां स्थूलत्वं, जगद्व्यापिनि महास्कन्धे सर्वोत्कृष्टमिति । समचतुरस्रन्यमोषसात्विकजुष्जवामन-ह्रण्डभेदेन पटप्रकारसंस्थानं यद्यपि व्यवहारनयेन जीवम्यासि तथाप्यसंस्थानादिबन्धमत्कारपरिणतोऽभिन्नत्वाभिन्नयेन पुद्गलसंस्थानमेव । यद्यपि जीवादन्यत्र पृथक्त्रिकोणचतुष्कोणादिष्वप्यव्यक्तरूपं बहुधा संस्थानं तदपि पुद्गल एव । गोधूमादिषूर्णरूपेण ध्रुवरण्डादिरूपेण बहुधा भेदो ज्ञातव्यः । दृष्टिप्रतिपन्नकोऽन्धकारसम इति भण्यते । वृक्षाद्याप्रयकरूपा मनुज्यादिप्रतिविम्बरूपा च छाया विज्ञेया । उच्यतेऽन्यत्र विमाने खद्योतादिनिर्यग्जीवेषु च भवति । आतप आदित्यविमाने अन्यत्रापि सूर्यकान्तमणिविशेषादौ पृथ्वीकाये ज्ञातव्यः । अयमत्रार्थः—यथा जीवस्य शुद्धनिश्चयेन स्वात्मोपलब्धिलक्षणे सिद्धस्वरूपे स्वभावव्यञ्जनपर्याये विद्यमानेऽप्यनादिकर्मबन्धवशात् स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषपरिणामे सति स्वाभाविकपरमानन्दैकलक्षणस्वास्थ्यभावभ्रष्टस्य नरनारकादिविभावव्यञ्जनपर्याया भवन्ति तथा पुद्गलस्यापि निश्चयनयेन शुद्धपरमाण्ववस्थाद्वारेण स्वभावव्यञ्जनपर्याये सत्यपि स्निग्धरूक्षस्याद्वन्द्वो भवतीति वचनाद्वारागद्वेषस्थानीयबन्धयोग्यस्निग्धरूक्षत्वपरिणामे सत्युक्तलक्षणाऽऽश्वादन्येऽप्ययागमोक्तलक्षणा आकुञ्चनप्रसारणदधिदुग्धादयो विभावव्यञ्जनपर्याया ज्ञातव्याः । एवमजीवाधिकारमध्ये पूर्वसूत्रोदितरूपादिगुणचतुष्टययुक्तस्य तथैवात्र सूत्रोदितगन्दादिपर्यायसहितस्य तथेपेणाणुस्कन्धभेदभिन्नस्य पुद्गलद्रव्यस्य व्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले ग्राह्याद्वयं गतम् ॥१६॥

ध्यात्वापार्थः—शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, उच्यते और आतप इन सहित पुद्गल द्रव्यके पर्याय होते हैं । अब इस विषयको विस्तारसे कहते हैं—भाषात्मक तथा अभाषात्मक इस प्रकार शब्द दो प्रकारका है । उनमें भाषात्मक शब्द अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक भेदसे दो प्रकारका है । उनमें भी मंगृह्य, प्राकृत तथा उनके

अपभ्रंशरूप पेशाची आदि भाषाओंके भेदसे आर्य, स्तेच्छ मनुष्योंके व्यवहार में अक्षरात्मक भेद भी अनेक प्रकारका है। और अक्षरात्मक भेद द्वीन्द्रिय आदि प्रथम तथा सर्वज्ञकी दिव्य ध्वनिमें है। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक तथा वैश्वसिक दो प्रकारका है। उनमें “वीणा आदिसे उत्पन्न शब्दको तत, ढोल आदिसे उत्पन्न प्रज्ञा वितत, मंजरी तथा तालसे उत्पन्न हुए शब्दको घन और बांसके छिद्र आदिसे बंधंशी आदिसे उत्पन्न शब्दको सुषिर कहते हैं。” इस श्लोकमें कथित क्रमके अनुसार प्रायोगिक (प्रयोगसे उत्पन्न होनेवाला) शब्द चार प्रकारका है, और विश्वम् अर्थात् समस्त उत्पन्न वैश्वसिक शब्द जो कि मेघ आदिसे उत्पन्न होता है वह अनेक प्रकारका विशेष यहां यह है कि शब्दसे रहित जो निज परमात्मा है उसकी भावनासे गिरा और शब्द आदि जो मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ पांचों इन्द्रियोंके विषय हैं उनमें जन्म हुए जीवने जो सुत्तर तथा दुःस्वर नामकर्मका उपार्जन किया उस कर्मके उदयसे ही जीवमें शब्द दीप्त पड़ता है तथापि वह शब्द जीवके संयोगसे उत्पन्न होनेके व्यवहार नयसे जीवका शब्द कहा जाता है और निश्चयनयसे तो वह शब्द पुद्गल ही है। अब बंधका निरूपण करते हैं—श्रुतिका आदिके पिंडरूपसे जो घट, गृह, सो आदि बंध है वह तो केवल पुद्गलबंधही है और जो कर्म नोकर्म रूप बंध है वह तथा पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न बंध है। और यहांपर विशेष यह जानना चाहिये कि बंधसे भिन्न जो निज शुद्ध आत्मा है उसकी भावनासे रहित जीवके अनुपचरित अक्षर व्यवहार नयसे द्रव्य बंध है, और इसी प्रकार अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे जो रागादिरूप भावबंध कहा जाता है वह भी शुद्ध निश्चयनयसे पुद्गलका ही बंध है। निरालं (बेल) आदिकी अपेक्षा बदर (बेर) आदि फलोंमें सूक्ष्मता है और परमाणुमें सूक्ष्मता है अर्थात्—यह किसीकी अपेक्षासे नहीं है ऐसी सूक्ष्मता है। बदर आदि फलोंमें अपेक्षा बिल्व आदि फलोंमें स्थूलत्व (बड़ापना) है और तीन लोकमें व्याप्त महाशक्त मर्वाल्लष्ट (गमने अधिक) स्थूलत्व है। सम, चतुरस्र (चतुष्कोण), त्र्यम्बोप, सातवर्ग, वामन और हुंड इन भेदोंसे बढ़ ६ प्रकारका संस्थान यद्यपि व्यवहारनयसे जीवके तथापि संस्थानशून्य जो चेतनचमत्कार परिणाम है उससे भिन्न होनेके कारण निश्चयमें अंतरांगमें पुद्गलकाही संस्थान है; और जो जीवमें अन्य स्थानोंमें गोल, त्रिकोण, चौकोर आदि प्रकट तथा अप्रकट रूप अनेक प्रकारका संस्थान है वह भी पुद्गलमें ही है। गोधूम (गेहूँ) आदिके घन रूपमें तथा घी, खांड आदि रूपमें अनेक प्रकारका संस्थान जानना चाहिये। दृष्टिका प्रतिबन्धक (रोकनेवाला) जो अंधकार है उसको सम कहते हैं। वृक्ष आदिके आश्रयमें होनेवाली तथा मनुष्य आदिके प्रतिबिम्बरूप जो है वह छाया जाननी चाहिये। चन्द्रमाके डिमानमें तथा मनोव (जुगनु व आभा) आदि निर्वचन

नेमि उद्योत होता है । मूयके विमानमें तथा और इसमें भित्त जो सूर्यकान्त आदि लिके भेरे हैं उन रूप दृग्बीजमें आतप जानना चाहिये । यदापर यह आगत्य है कि मे शुद्धनिश्चयनमें जीवके निज आमाश्री मासिरूप मिद्ध स्वरूपमें सभाव व्यञ्जन रूप विद्यमान है तो भी अनादि कालके कर्मबंधनके बन्धने पुद्गलके क्षिप्र तथा रुक्ष रूपके स्थानगुण राग द्वेष परिणाम होनेपर स्वाभाविक परमानन्दरूप स्वास्थ्य भावसे भट्ट रूप जीवके मनुष्य, नारक आदि विभाव व्यञ्जन पर्याय होते हैं; उसी प्रकार पुद्गलके भी देशक मयमे शुद्ध परमाणु अवस्थारूप स्वभाव व्यञ्जन पर्यायके विद्यमान होते हुए भी 'क्षिप्र तथा रुक्षतामे बंध होता है।' हम बचनमे राग और द्वेषके स्थानको प्राप्त हुए श्रेष्ठतया रुक्षतया परिणामके होनेपर पूर्वोक्त लक्षण शब्द आदिके अतिरिक्त अन्य भी शास्त्रोक्त लक्षणके धारक आनुष्ठान, प्रसारण, ठपि, तथा दुग्ध आदि विभाव व्यञ्जन पर्याय जानने चाहिये ॥

इस प्रकार अजीव अधिकारके मध्यमें "अजीवो" इत्यादि पूर्वसूत्रमें कथित रूप, रस आदि चार गुणोंसे युक्त तथा हम "सहो बंधो" इत्यादि सूत्रमें कथित जो शब्द बंध आदि पर्याय हैं उन गदित तथा अणु, स्कन्ध आदि भेदोंसे भित्त जो पुद्गलद्रव्य है उसका संशेषमे मुख्यपनेसे निरूपण करने द्वारा प्रथम स्थलमें दो गाथायें समाप्त हुई ॥ १६ ॥

अथ धर्मद्रव्यमाख्याति ।

अथ धर्मद्रव्यकी व्याख्या करते हैं ।

गह परिणयाण धम्मो पुग्गलजीयाण गमणसहपारी ।

तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ॥ १७ ॥

गाथाभावार्थः—गति (गमनमें) परिणत जो पुद्गल और जीव हैं उनके गमनमें धर्मद्रव्य सहकारी है, जैसे मत्स्योके गमनमें जल सहकारी है और नहीं गमन करते हुए पुद्गल और जीवोंको वह धर्मद्रव्य कदापि गमन नहीं कराता है ॥ १७ ॥

व्याख्या । गतिपरिणतानां धर्मो जीवपुद्गलानां गमनसहकारिकारणं भवति । दृष्टान्त-माह—तोयं यथा मत्स्यानाम् । स्वयं तिष्ठतो नैव स नयति तानिति । तथाहि—यथा सिद्धो मगवानमूर्त्तोऽपि निष्क्रियस्यैवाग्ररक्षोऽपि सिद्धवदनन्तशानादिगुणस्वरूपोऽहमित्यादिव्यव-हारेण सविकल्पसिद्धमूर्त्तियुक्तानां मिश्रयेन निर्विकल्पसमाधिरूपस्वकीयोपादानकारणप-रिणतानां मव्यानां सिद्धगतेः सहकारिकारणं भवति । तथा निष्क्रियोऽमूर्त्तो निष्प्रेरकोऽपि धर्मास्तिकायः स्वकीयोपादानकारणेन गच्छतां जीवपुद्गलानां गतेः सहकारिकारणं भवति । छोकप्रसिद्धदृष्टान्तेन तु मत्स्यादीनां जलादिवदित्यभिप्रायः ॥ एवं धर्मद्रव्यव्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थः—गतिमें परिणत अर्थात् गमनक्रियामहित जीव तथा पुद्गलोंके धर्म-

द्रव्य गमनमें सहकारी कारण अर्थात् गतिमें सहायक होता है। इसमें दृष्टान्त देने जैसे मत्स्योंके गमन करनेमें जल सहायक है। परन्तु स्वयं उहरे हुए जीव पुद्गलोंके धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता है। अब इस विषयको अन्य दृष्टान्त द्वारा पुष्ट करते हैं। सिद्ध भगवान् अमूर्त हैं, कियारहित हैं तथा किसीको प्रेरणा करनेवाले भी नहीं हैं। "मैं सिद्धोंकी भांति अनन्त ज्ञान आदि गुणरूप हूं" इत्यादि व्यवहारसे सविकल्प भक्तिके धारक और निश्चयसे निर्विकल्प ध्यानरूप अपने उपादान कारणसे जो मव्य जीवोंके ये सिद्ध भगवान् सिद्ध गतिमें सहकारी कारण होते हैं। इसी प्रकार रहित, अमूर्त और प्रेरणारहित जो धर्मास्तिकाय है वह भी अपने अपने उपादानोंसे गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमनका सहकारी कारण होता है। तब प्रसिद्ध ऐसे दृष्टान्तसे तो जैसे मत्स्य आदिके गमनमें जल आदि सहकारी कारण हैं वैसे जीव पुद्गलके गमनमें धर्मद्रव्य सहकारी कारण है ऐसा जानना चाहिये। यह अभिप्राय इस प्रकार धर्मद्रव्यके व्याख्यान रूपसे यह गाथा समाप्त हुई ॥ १७ ॥

अथ धर्मद्रव्यमुपदिशति ।

अब अधर्मद्रव्यका उपदेश करते हैं ।

ठाण जुवाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहपारी ।

छाया जह पहियाणं गच्छन्ता नेव सो धरई ॥ १८ ॥

गाथाभावार्थः—श्रितिसहित जो पुद्गल और जीव हैं उनकी स्थितिमें कारण अधर्म द्रव्य है जैसे पहियों (चटोहियों)की स्थितिमें छाया सहकारी गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलोंको वह अधर्म द्रव्य नहीं टहरता है ॥ १८ ॥

व्याख्या । स्थानयुष्ठानामधर्मः पुद्गलजीवानां स्थितेः सहकारिकारणं भवति । दृष्टान्तः—छाया यथा पहिकानाम् । स्वयं गच्छन्तो जीवपुद्गलान्स नैव धरतीति । तन्मयं स्वमंसितमनुपपन्नमुपगमनरूपं परमस्याख्यं यद्यपि निश्चयेन स्वरूपे स्थितिकारणं भवति । "मिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अनेनानादिगुणसमिद्धोऽहं । देहपमाणो गिहो भमंरदेसो अमुत्तोष । इति गाथाकथितमिद्धमन्तिरूपेणैव पूर्वं सविकल्पावस्थायां मिद्धोऽपि यथा मध्यानां । ब्रह्मसहकारिकारणं भवति तथैव स्वकीयोपादानकारणेन स्वयमेव तिष्ठतां जीवपुद्गलानि धर्मद्रव्यं स्थितेः सहकारिकारणम् । लोकेष्ववहारेण तु छायावदा श्रुतिवीरदेति सूत्रायै एवमधर्मद्रव्यकथनेन गाथा गता ॥ १८ ॥

व्याख्यानार्थः—निनिमहित जो पुद्गल तथा जीव हैं उनकी स्थितिमें सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है । उसमें दृष्टान्तः—जैसे छाया पहियोंकी स्थितिमें सहकारी कारण और स्वयं गमन करने हुए जीव पुद्गलोंको वह अधर्म द्रव्य कदापि नहीं टहराता है । ऐसे हैं—यद्यपि निश्चयसे अपने आत्मज्ञानसे उत्पन्न मुष्णमनरूप जो परमात्म्याख्य है

नरूपमें स्थितिका कारण होता है; परन्तु "मैं सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, अनन्त ज्ञानआदि
को धारक हूं, शरीरप्रमाण हूं, नित्य हूं, असंख्यता प्रदेशोंका धारक हूं तथा अमूर्त
। १ ।" इस गायमें कहीहुई सिद्धभक्तिके रूपसे इस संसारमें पहले सविकल्प अव-
गममें सिद्ध भी जैसे भव्य जीवोंके बहिरंग सहकारी कारण होते हैं उसी प्रकार अपने २
सादान कारणसे स्वयं ही ठहरते हुए जीव पुद्गलोंके अधर्म द्रव्य स्थितिका सहकारी
कारण होता है। और लोकके व्यवहारसे जैसे छाया अथवा पृथिवी ठहरते हुए पथिकोंकी
स्थितिमें सहकारी होती है वैसे ही स्वयं ठहरते हुए जीवपुद्गलोंकी स्थितिमें अधर्म द्रव्य
स्थितिमें सहकारी होता है। यह सूत्रका भाषार्थ है ॥ ऐसे अधर्मद्रव्यके निरूपणद्वारा
माया समाप्त हुई ॥ १८ ॥

अवकाशद्रव्यमाह ।

अव आकाश द्रव्यका कथन करते हैं ।

अवगासदाणजोगं जीवादीणं वियाण आपासं ।

जेणं लोगागासं अद्दोगागासमिदि वुविहं ॥ १९ ॥

गाथाभावार्थः—जो जीव आदि द्रव्योंको अवकाश देनेवाला है उसको भीजिनेन्द्र करके
। हुआ आकाश द्रव्य जानो । वह लोकाकाश और अलोकाकाश इन भेदोंमें दो प्रकार-
का है ॥ १९ ॥

ध्याख्या । जीवादीनामवकाशदानयोग्यमाकाशं विज्ञानीहि हे शिष्य । किं विंशत् "जेणं"
अस्यैह जैनं, जिनेन प्रोक्तं वा जैनम् । तच्च लोकालोकाकाशभेदेन द्विविधमिति । इदानीं
ततः—सहजशुद्धमुखाभूतसाम्नादेन परमसमरसीभावेन भरितावस्थेषु बेवहजानागम-
णाधारभूतेषु लोकाकाशप्रमितामन्वयेयम्बकीयशुद्धप्रदेशेषु यद्यपि निश्चयनयेन सिद्धानि-
त, तथाप्युपचरितामद्भूतव्यवहारेण मोक्षशिलायां तिष्ठन्तीति भण्यते श्रुत्युत्प्रेक्षितम् । न
हिदृशो मोक्षो यत्र प्रदेशे परमध्यानेनात्मा स्थितः सन् कर्मरहितो भवति, तत्रैव भवति
यत्र । ध्यानप्रदेशे कर्मपुद्गलान् त्यक्त्वा उर्ध्वगमनस्यभावेन गत्वा मुक्तात्मानो यतो लोकावे-
त्ते तत्र उपचारेण लोकाप्रमवि मोक्षः प्रोच्यते । यथा तीर्थमूलपुरुषसेविनस्थानमपि
नेमलादिरूपमुपचारेण तीर्थं भवति । मुखबोधार्थं कथितमात्रेण यथा तथैव सर्वदृष्ट्याजि-
पि निश्चयनयेन स्वकीयप्रदेशेषु तिष्ठन्ति तथाप्युपचरितामद्भूतव्यवहारेण लोकाकाशं
गतीत्यभिप्रायो भगवतां भीजेमिच्छन्द्रमिद्वान्तदेवानामिति ॥ १९ ॥

ध्याख्यार्थः—हे शिष्य । जीवादि द्रव्योंको अवकाश (रहनेको स्थान) देनेकी योग्यता
में है उसको जिन भगवान् गंभन्धी अथवा भीजिनेन्द्र करके बरा हुआ आकाश द्रव्य
हो । और वह आकाश लोकाकाश तथा अलोकाकाश इन भेदोंमें दो प्रकारका है ।
। इसका वर्णन विभारसे करते हैं । स्वाभाविक तथा शुद्ध मुखरूप अमूर्तरमके आकाश
परम समरसीभावसे पूर्ण अवस्थाओंसे युक्त तथा बेवह ज्ञान आदि अनन्त गुणोंके

आधारभूत होनेसे जो लोकाकाश प्रमाण अगम्यान् अपनी अन्तर्गत में लेते हैं, निश्चयनयकी अपेक्षागे मिद्ध जीव नियाम करने हैं; तथापि उपरान्त कर्म नयसे सिद्ध मोक्षस्थितिमें रहते हैं ऐसा कहा जाता है। यह पहले कह चुके हैं। ऐसा मोक्ष जिस प्रदेशमें आत्मा परमध्यान युक्त होकर कर्मरहित होना है वही कहीं नहीं। ध्यान करनेके स्थानमें कर्म पुद्गलोंको छोड़कर तथा ऊर्ध्वगमन गमन कर मुक्त जीव जिस हेतुमें लोकके अग्रभागमें जाके नियाम करने हैं। लोकका जो अग्रभाग है वह भी उपचारसे मोक्ष कहलाना है। जैसे कि तीर्थतटसे स्थित भूमि तथा जल आदिरूप स्थान भी उपचारसे तीर्थ होता है। यह वन शिष्योंको मुखसे समझानेके लिये किया गया है। जैसे मिद्ध निजमंदरीमें रहते प्रकार निश्चयनयसे यद्यपि सभी द्रव्य अपने अपने प्रदेशोंमें स्थित रहते हैं, तथा चरित असद्रूप व्यवहार नयसे लोकाकाशमें सब द्रव्य निष्ठते हैं ऐसा यहाँ श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका अभिप्राय जानना चाहिये ॥ १९ ॥

तमेव लोकाकाशं विशेषेण दृढयति ।

अथ उसी लोकाकाशको विशेषण रूपमें दृढ़ करते हैं ।

धम्मा धम्मा कालो पुग्गलजीवाय सन्ति जायदि ये ।

आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोपुरिति ॥ २० ॥

गाथाभावर्यः—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये पांचों द्रव्य जिनमें शामिल हैं यह तो लोकाकाश है और उस लोकाकाशके आगे अलोकाकाश है ॥ २० ॥

व्याख्या । धर्माधर्मकालपुद्गलजीवाश्च सन्ति यावत्काशे स लोकः । तथा लोक्यन्ते दृढयन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक इति । तस्मात्लोकाकाशात्परतो पुनरनन्ताकाशमलोक इति । अत्राह सोमाभिधानो राजश्रेष्ठी । हे भगवन् ! केवलज्ञानमय भागप्रमितमाकाशद्रव्यं तस्याप्यनन्तभागे सर्वमध्यमप्रदेशे लोकस्तिष्ठति । स पानातिर्गता केनापि पुरुषविशेषेण न कृतो न हतो न धृतो न च रक्षितः । तथैवासंख्यातप्रदेशान्तरात्प्रदेशे लोकैऽनन्तजीवासेभ्योऽप्यनन्तगुणाः पुद्गलाः, लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालावधिः, प्रत्येकं लोकाकाशप्रमाणं धर्माधर्मद्वयमित्युक्तलक्षणाः पदार्थाः कथमवकाशं लभन्त इति भगवानाह—एकप्रदीपप्रकाशे नानाप्रदीपप्रकाशवदेकगृहरसनागगद्याणके बहुमुखवर्तमाने पटमध्ये सूचिकोद्गुग्धवदित्यादिदृष्टान्तेन विशिष्टवगाहनशक्तिवशादमंख्यातप्रदेशे लोकैऽवस्थानमवगाहो न विरुध्यते । यदि पुनरित्यंभूतावगाहनशक्तिर्न भवति तर्हस्तत्प्रदेशेष्वमंख्यातपरमाणूनामेव व्यवस्थानं, तथा सति सर्वे जीवा यथा शुद्धनिश्चयेन स रूपेण निरावरणाः शुद्धबुद्धैकस्वभावाभ्यां व्यक्तिरूपेण व्यवहारनयेनापि न च तथा विरोधादागमविरोधाच्चेति । एवमाकाशद्रव्यप्रतिपादनरूपेण सूत्रद्वयं गतम् ॥ २० ॥

व्याख्यार्थः—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल तथा जीव ये पांचों द्रव्य जिनमें आकाश

रहते हैं उतने आकाशके भागका नाम लोक अथवा लोककाश है । ऐसा कहा भी है—जहांपर जीव आदि पदार्थ देखनेमें आते हैं वह लोक है । उस लोककाशसे परे त् बाह्य भागमें जो अनन्त आकाश है वह अलोक अथवा अलोककाश है । अब सर मोम है नाम जिसका ऐसा राजश्रेष्ठी प्रथम करता है कि हे भगवन् ! केवल ज्ञानका अनन्त भाग है उस प्रमाण तो आकाश द्रव्य है और उस आकाशके अनन्त भागों- एक भागमें सबके बिचले भागमें लोक है और वह लोक आदि तथा अन्तमें रहित । किसी पुरुषका बनाया हुआ है, न किसीसे विनाशित है, न किसीसे धारण किया है और न किसीसे रक्षा किया हुआ है । और असंख्यात प्रदेशोंका धारक है । उस ख्यात प्रदेशोंके धारक लोकमें अनन्तों जीव, अनन्त गुणे पुद्गल, लोककाश प्रमाण ख्यात कान्धु द्रव्य, लोककाश प्रमाण धर्मद्रव्य तथा लोककाश प्रमाणही अधर्म द्रव्य प्रकार पूर्वोक्त लक्षणके धारक पदार्थ कैसे अवकाशको प्राप्त होते हैं? इस शंकाका उत्तर । कर दीजिये । अब भगवान् इसके उत्तरमें कहते हैं कि जैसे एक दीपके प्रकाशमें एक दीपोंका प्रकाश अवकाशको पाता है उस तरह, अथवा जैसे एक गूढ रमविशेषमें हुए शीशेके भांडमें बहुतसा सुवर्ण अवकाश पाता है उस प्रकार, अथवा भस्ममें भरे घटमें जैसे रूर्ध और कंटनीका दूध आदि समाजाते हैं उस प्रकार विशिष्ट अवगाहन के बशमें असंख्यात प्रदेशवाले लोकमें पूर्वोक्त जीव पुद्गलदिकोंका रहना विरोधको नहीं होता । और यदि इस प्रकार अवगाहनशक्ति न हो तो लोकके असंख्यात शोमें असंख्यात परमाणुओंका ही निवास हो । और ऐसा होनेपर जैसे शक्तिरूप शुद्ध प्रयनयसे सब जीव आवरणरहित तथा शुद्ध शुद्ध एक स्वभावके धारक है, वैसेही व्यक्ति-व्यवहारनयसे भी हो जायें; और ऐसे हैं नहीं । क्योंकि, इस माननेमें प्रत्यक्ष और तमसे विरोध है ॥ इस प्रकार आकाश द्रव्यके निरूपणसे दो सूत्र चरितार्थ हुए ॥२०॥
अथ निश्चयव्यवहारकालम्बरूपं कथयति ।

अथ निश्चयकाल तथा व्यवहारकालके स्वरूपका वर्णन करते हैं ।

द्रव्यपरिग्रहस्थो जो सो कालो ह्येह व्यवहारो ।

परिणामादी लक्षणो घटणलक्षणोऽयं परमहो ॥ २१ ॥

गाथाभाषार्थः—जो द्रव्योके परिवर्तन रूप, परिणाम रूप देखा जाना है वह व्यवहारकाल है और वर्तना लक्षणका धारक जो काल है वह निश्चयकाल ॥ २१ ॥

व्याख्या । “द्रव्यपरिग्रहस्थो जो” द्रव्यपरिवर्तनरूपो यः “जो कालो ह्येह व्यवहारो” कालो भवति व्यवहाररूप । स य कथम्भूत “परिणामादी लक्षणो” आपारलेन लभ्यत इति परिणामादिलक्ष्य । इदानीं निश्चयकाल

“वट्टणलक्खोय परमट्ठो” वर्त्तनालक्षणञ्च परमार्थकाल इति । तथा—जीवपुट्टद्वये परिचर्त्ता नवजीर्णपर्यायस्य या समयपटिकादिरूपा स्थितिः स्वरूपं यस्य स भवति द्रव्य-पर्यायरूपो व्यवहारकालः । तथाचोक्तं मंस्कृतप्राभृतेन—“स्थितिः कालमंशका” तस्य पर्यायस्य संवन्धिनी याऽसौ समयपटिकादिरूपा स्थितिः सा व्यवहारकालमंशा भवति न च पर्याय इत्यभिप्रायः । यत एव पर्यायसंवन्धिनी स्थितिर्व्यवहारकालमंशा भवते तत एव जीवपुट्टसंवन्धिपरिणामेन पर्यायेण तथैव देशान्तरचलनरूपया मोक्षोद्देशादिपरिणाम-लक्षणरूपया वा क्रियया तथैव दूरासन्नचलनकालकृतपरत्वावगतेन च लक्ष्यते ज्ञायते च स परिणामक्रियापरत्वापरत्वलक्षण इत्युच्यते । अयं द्रव्यरूपनिश्चयकालमाह । स्वकीयोपादानरूपेण स्वयमेव परिणममानानां पदार्थानां कुम्भकारचक्रस्याधमनगिलावन्, शीतकाला-व्ययने अग्निवन्, पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्वं सा वर्त्तना भण्यते । सैव लक्षणं यच्च स वर्त्तनालक्षणः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकालः, इति व्यवहारकालस्वरूपं निश्चयकालस्वरूपं च विशेषम् । कश्चिदाह “समयरूप एव निश्चयकालसम्मादन्यः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चय कालो नास्त्यदर्शनात् ।” तत्रोत्तरं दीयते—समयस्यावत्कालस्यैव पर्यायः, स कथं पर्याय इति चेत् पर्यायस्योत्पन्नप्रभवंसित्वान् । तथाचोक्तं “मम उप्पन्न पयंसो” स च पर्यायो द्रव्यं विना न भवति, पश्चात्तस्य समयरूपपर्यायकालस्योपादानकारणभूतं द्रव्यं तेनापि कालरूपेण भाव्यम् । इन्धनामिसहकारिकारणोत्पन्नस्योदनपर्यायस्य तन्दुलोपादानकारणवन्, अयं कुम्भकारचक्रचीवरादिबहिरङ्गनिमित्तोत्पन्नस्य मृन्मयपटपर्यायस्य मृत्पिण्डोपादानकारणवन्, अथवा नरनारकादिपर्यायस्य जीवोपादानकारणवदिति । तदपि कस्मादुपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात् । अयं मतं “समयादिकालपर्यायाणां कालद्रव्यमुपादानकारणं न भवति; किन्तु समयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुट्टलपरमाणुसंख्या निमेषकालोत्पत्तौ नयनपुट्ट-विषट्ठनं, तथैव घटिकाकालपर्यायोत्पत्तौ घटिकासामग्रीभूतजलभाजनपुरुषहस्तादिव्यापारे, दिवसपर्याये तु दिनकरविम्बमुपादानकारणमिति नैवम् । यथा तन्दुलोपादानकारणोत्पन्नस्य सदोदनपर्यायस्य शुक्लकृष्णादिवर्णा, मुरभ्यसुरभिगन्ध—स्निग्धरूपादिस्पर्श—अधुरादिरसवि-शेषरूपा गुणा दृश्यन्ते । तथा पुट्टलपरमाणुनयनपुट्टविषट्ठनजलभाजनपुरुषध्यापारादिदिनकर-विम्बरूपैः पुट्टलपर्यायैरुपादानभूतैः समुत्पन्नानां समयनिमित्तपटिकादिकालपर्यायाणामपि शुक्लकृष्णादिगुणाः प्राप्नुवन्ति न च तथा । उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात् । किं ह्युना । योऽसावनाद्यनिधनस्यैवामूर्त्तौ नित्यः समयाणुपादानकारणभूतोऽपि समयादिविकल्परहितः कालाणुद्रव्यरूपः स निश्चयकालो, यस्तु सादिसान्तसमयपटिकाग्रहरादिविवक्षित-व्यवहारविकल्परूपस्यैव द्रव्यकालस्य पर्यायभूतो व्यवहारकाल इति । अयमत्र भावः—यद्यपि काललक्ष्यवशेनानन्तमुखभाजनो भवति जीवस्यपि विशुद्धज्ञानदर्शनस्यमावनिज-परमात्मतत्त्वस्य सम्पद्भूतज्ञानज्ञानानुष्ठानसमस्तबहिर्द्रव्येच्छानिर्वृत्तिलक्षणतपश्चरणरूपा वा निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं ज्ञातव्यं न च कालसेन स हेय इति ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थः—“द्रव्यपरिवट्टरूपो जो” जो द्रव्य परिवर्त्तरूप है “सो कालो हवे वहरारो” वह व्यवहाररूप काल होता है. और वह कैसा है कि “परिणामादीलसतो” परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्वसे जाना जाता है. इसलिये परिणामादिलक्ष्य है । अब निध-

वर्णनाका धन करते हैं । "वृष्टणल्लखो य परमट्ठो" जो वर्चनालक्षण काल है वह परमार्थ (निश्चय) काल है ॥ अब इस व्यवहार तथा निश्चयकालका विस्तारसे वर्णन इस प्रकार है- जैसे-जीव तथा पुद्गलका परिवर्त जो नूतन तथा जीर्ण पर्याय है उस पर्यायकी जो समय, पटिका आदिरूप स्थिति है वही जिसका स्वरूप है वह द्रव्यपर्यायरूप व्यवहार काल है । गोटी संस्कृतप्राभृतने कटा भी है कि "स्थिति जो है वह कालसंज्ञक है" । तात्पर्य यह है कि उस द्रव्यके पर्यायसे संबन्ध रखनेवाली जो समय, पटिका आदिरूप स्थिति है वह स्थिति ही "व्यवहारकाल" इस संज्ञाकी धारक होती है और वह जो द्रव्यका पर्याय है सो व्यवहारकाल संज्ञाको नहीं धारण करता । और जो पर्यायसंबंधिनी स्थिति "व्यवहारकाल" इस नामको धारण करती है इसी कारणसे जीव तथा पुद्गल संबंधी परिणाम रूप पर्यायसे, तथा देशान्तरमें संचलन रूप अथवा गोदोहन, पारु, आदि परिस्पन्द लक्षणकी धारक क्रियासे, तथा दूर वा समीप देशमें चलन रूप कालकृत परत्व तथा अपरत्वसे यह काल जाना जाता है इसीलिये वह काल, परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व लक्षणका धारक कहा जाता है । अब द्रव्यरूप निश्चयकालका धन करते हैं । अपने अपने उपादान रूप कारणमे स्वयं ही परिणमनको प्राप्त होते हुए पदार्थोंके जैसे कुंभकारके चक्र (चाक्र) के भ्रमणमें उसके नीचेकी शिला सहकारिणी है उस प्रकार, अथवा शीतकाल (जाड़े) के पक्षमें अग्नि सहकारी है उस प्रकार जो पदार्थपरिणतिमें सहकारिता है उसीको वर्चना कहते हैं, और वह वर्चना ही है लक्षण जिसका सो वर्चना लक्षणका धारक कालाणु द्रव्यरूप निश्चय काल है । इस प्रकार व्यवहारकालका तथा निश्चयकालका स्वरूप जानना चाहिये । यहां कोई कहता है कि समय रूप ही निश्चयकाल है । उस समयसे भिन्न कालाणु द्रव्य रूप कोई निश्चयकाल नहीं है । क्योंकि, देखनेमें नहीं आता ॥ अब इसका उत्तर देते हैं कि समय जो है सो तो कालका ही पर्याय है । कदाचिद् कहो कि समय कालका पर्याय कैसे है ? तो उत्तर यह है कि पर्याय जो है सो "सम उप्पन्न-पधंसी" इस आगमोक्त वाक्यके अनुसार उत्पन्न होता है और नाशको प्राप्त होता है और वह पर्याय द्रव्यके बिना नहीं होता और फिर यदि समयको ही काल मानलो तो उस समय रूप पर्याय कालका उपादान कारणभूत जो द्रव्य है उसको भी कालरूप ही होना चाहिये । क्योंकि जैसे इंधन, अग्नि आदि सहकारी कारणसे उत्पन्न ओदन पर्याय (पके चावल) का उपादान कारण चावल ही होता है; अथवा कुंभकार, चाक्र, चीवर आदि बहिरंग निमित्त कारणोंसे उत्पन्न जो मृत्तिकादि रूप घट पर्याय है उसका उपादान कारण मृत्तिकाका पिंड ही है; वा नर नारक आदि जो जीवके पर्याय हैं उनका उपादान कारण जीव ही है; ऐसे ही समय पटिका आदि रूप कालका भी उपादान कारण काल ही होना चाहिये । यह नियम भी क्यों माना गया है कि "अपने उपादान कारणके समान ही कार्य होता है"

ऐसा वचन है । अब कदाचित् तुम्हारा ऐसा मत हो कि "समय, घटिका आदि काल-पर्यायोंका उपादान कारण कालद्रव्य नहीं है किन्तु समय रूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें मन् गतिमें परिणत पुद्गल परमाणु उपादान कारण है, तथा निमेषरूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें नेत्रोंके पुटोंका विपटन अर्थात् पलकका गिरना उठना उपादान कारण है, ऐसे ही घटिका रूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें घटिकाकी सामग्रीरूप जो जलका भाजन और पुरुषके हस्त आदिका व्यापार है वह उपादान कारण है और दिनरूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें सूर्यका बिम्ब उपादान कारण होता है इत्यादि । सो यह मानना भी ठीक नहीं है । क्योंकि, जैसे तन्दुल (चावल) रूप उपादान कारणसे उत्पन्न जो ओदन (भात) पर्याय है उसके निम्न उपादान कारणमें मास गुणोंके समान ही शुक, कृष्ण, आदि वर्ण, अच्छा वा बुरा गन्ध, चिकना अथवा रूखा आदि स्पर्श, मधुर आदि रस, इत्यादि विशेष गुण देख पड़ते हैं, ऐसे ही पुद्गल परमाणु, नयनपुटविपटन, जलभाजन, पुरुषव्यापार आदि तथा सूर्यके बिम्ब इन रूप जो उपादानभूत पुद्गलपर्याय हैं उनसे उत्पन्न हुए समय, निमेष, घटिका, दिन आदि जो कालपर्याय हैं उनको भी शुक, कृष्ण आदि गुण प्राप्त होते हैं, परन्तु समय घटिका आदिमें उपादान कारणोंके कोई गुण नहीं देख पड़ते । क्योंकि, उपादानकारणसे ममान कार्य होता है ऐसा वचन है । अब यहां अधिक कहना व्यर्थ है । जो आदि ता अन्तमे रहित है, अमूर्ण है, नित्य है, समय आदिका उपादानकारणभूत है तो भी समय आदि भेदोंमे रहित है, और कालानु द्रव्यरूप है वह तो निश्चय काल है । और जो आदि तथा अन्तमे रहित है, समय, घटिका तथा महर आदि विवक्षित व्यवहारके विकल्पोमे मूल है, वह उगी द्रव्यकालका पर्यायभूत व्यवहारकाल है । यहां तात्पर्य यह है कि यद्यपि यह जीव कालव्यभिचे पक्षमे अनन्त मुक्तका भाजन (पात्र) होता है, तथापि विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावका धारक जो निज परमात्मका स्वरूप है उसके सम्बन्ध अज्ञान, शान, आवरण और मूर्छा बाध द्रव्योंकी इच्छाको दूर करनेरूप लक्षणका धारक तपश्चरण ऐसे दर्शन, ज्ञान, चरित्र तथा तत्पर्य जो निश्चयमे चार प्रकारकी आराधना है वह आराधना ही उस जीवके अनन्त मुक्तकी प्राप्तिमें उपादान कारण है ऐसा जानना चाहिये । और काल उपादान कारण नहीं है, इसलिये वह काल द्वय (त्याज्य) है ॥ २१ ॥

अथ निश्चयकालद्रव्यावस्थानक्षेत्रे द्रव्यगगनतां च प्रतिपादयति ।

अब निश्चयकालकी स्थिति का क्षेत्र तथा कालको द्रव्योंमें क्यों गिना गया इस विषयका प्रतिपादन करने है ।

योग्यायामपदेमे इति के जे टिका दृ इति का ।

उपपादार्थं शरीर इय मे कालानु भर्मान्द्रव्याणि ॥ २२ ॥

माथामासायः—जो योग्यायामपदेमे पृष्ठ पृष्ठ पदेनमे शरीर की साक्षीके समान

भवति ततः स ह्येव इति । तथाचोक्तं “किं पदविण्णं बहुणा जे सिद्धा णरवरा गए कहे । सिद्धिहं हि जेवि भविष्या तं जाणह सम्ममाहण्यं ?” इदमत्र तात्पर्य—कालद्रव्यमन्यद्वा परमाविरोधेन विचारणीयं परं किन्तु वीतरागसर्वमवधानं प्रमाणमिति मनसि निश्चिन विवादो न कर्त्तव्यः । कस्मादिति चेन्—विवादे रागद्वेषौ भवतस्तत्र संसारशुद्धिरिति ।

ध्याख्यायार्थः—“लोयायासपदेसे इक्किजे जे ठिया हु इक्किजा” एक एक लोकाकाशे प्रदेशोमें जो एक एक संख्यायुक्त स्पष्ट रूपसे स्थित हैं । किसकिसी तरह “रयणाणं गणं इव” परस्पर अमेदको त्याग कर रत्नोंकी रागिके सदृश अर्थात् रत्नरागिकी भांति भिन्न स्थित हैं । “ते कालणू” वे कालाणु हैं । कितनी संख्याके धारक हैं ? “असंखदब्बाणि” लोकाकाश परिमाण असंख्यात द्रव्य हैं । अब द्रव्यसिद्धिमें प्रमाण कहते हैं । जैसे कि क्षणमें अंगुलिरूप द्रव्यके बक (बाँके) पर्यायकी उत्पत्ति होती है उसी क्षणमें उसके सब पर्यायका नाश होता है और अंगुली रूपसे उस अंगुलीमें प्रौढ्य है, इस रीतिसे उत्तरी नाश तथा प्रौढ्य इन तीनों लक्षणोंसे युक्त होनेसे द्रव्यसिद्धि होगई । और भी जैसे केवल ज्ञान आदिकी व्यक्ति (प्रकटता) रूपसे कार्य समयसारका अर्थात् केवल ज्ञानादि रूपसे परिणत आत्माका उत्पाद होता है उसी समय निर्विकल्प ध्यानरूप जो कारण समयसार है उसका नाश होता है और उन दोनोंका आधारभूत जो परमात्मा द्रव्य है उस रूपमें प्रान है, इस रीतिसे भी द्रव्यकी सिद्धि है । उसी प्रकार कालाणुके भी जो मन्द गतिमें परिणत पुद्गल परमाणु द्वारा प्रकट किये हुए और कालाणुरूप उपादान कारणमें उत्पन्न हुए ऐसे वर्त्तमान समयका उत्पाद है वही अतीत (गये हुए) समयकी अपेक्षा उसका विनाश है और उन वर्त्तमान तथा अतीत दोनों समयोंका आधारभूत कालद्रव्यपनेसे प्रौढ्य है । ऐसे उत्पाद, व्यय तथा प्रौढ्यरूप लक्षणके धारक काल द्रव्यकी सिद्धि है । नंका—“लोको बास भागमें कालाणु द्रव्यके अभावसे अलोकाकाशमें परिमाण कैसे हो सकता है ?” यदि ऐसा कहो तो उत्तर यह है कि आकाश असंख द्रव्य है इसलिये जैसे चारके एक देगे विद्यमान दंडकी प्रेरणासे संपूर्ण कुंभकारके चाकका परिभ्रमण हो जाता है, उस प्रकार अथवा जैसे एक देगमें प्रिय ऐमे स्पर्शन इन्द्रियके विषयका अनुभव करनेमें समस्त शरीरमें सुषुप्ता अनुभव होता है उस प्रकार लोकके मध्यमें स्थित जो कालाणु द्रव्यको धार करनेवाला एकदेश आकाश है उसमें भी सर्व आकाशमें परिणमन होता है । शंका—जैसे कालद्रव्य जीव, पुद्गल आदि द्रव्योंके परिणमनमें महत्कारी कारण है वैसेही कालद्रव्यके परिणमनमें महत्कारी कारण कौन है ? । उत्तर—जैसे आकाश द्रव्य संपूर्ण द्रव्योंका आधार है और अपना आधार भी आपही है, इसी प्रकार काल द्रव्य भी अन्य सब द्रव्योंके परिणमनमें और अपने परिणमनमें भी महत्कारी कारण है । अब कदाचिन् कहो कि जैसे काल द्रव्य अपना तो उपादान कारण है और परिणमनका महत्कारी कारण है, वैसेही जीव आदि

।य द्रव्योंको अपने उपादान कारण और परिणतिके सहकारी कारण मानो । उन जीव आ-
 ५७ परिणमनमें कालद्रव्यसे क्या प्रयोजन है! समाधान—ऐसा नहीं । क्योंकि, यदि अपनेसे
 भेज बहिरंग सहकारी कारणसे प्रयोजन नहीं है तो सब द्रव्योंमें साधारण रूप (समानता)-
 । विद्यमान जो गति, स्थिति, तथा अवगाहन हैं उनके विषयमें सहकारी कारणभूत जो
 र्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्य हैं उनसे भी कोई प्रयोजन नहीं है । और भी, कालका तो
 तिका (घड़ी) दिन आदि कार्य प्रत्यक्षसे देख पड़ता है और धर्म द्रव्य आदिका कार्य
 तो केवल आगम (शास्त्र) के कथनसे ही माना जाता है; उनका कोई कार्य प्रत्यक्षसे नहीं
 देख पड़ता । इसलिये, जैसे कालद्रव्यका अभाव मानते हो उसी प्रकार उन धर्म, अधर्म
 तथा आकाश द्रव्योंका भी अभाव अवश्य प्राप्त होता है । और जब इन काल आदि चारोंका
 अभाव मानलोगे तो जीव तथा पुद्गल ये दोही द्रव्य रह जायेंगे । और दो द्रव्योंके माननेपर
 आगमसे विरोध होगा । और सब द्रव्योंके परिणमनमें सहकारी होना यह केवल काल
 द्रव्यका ही गुण है । जैसे प्राण इंद्रिय (नाविका) में रसका आस्वाद नहीं हो सकता, ऐसे
 ही अन्य द्रव्यका गुण भी अन्य द्रव्यके करनेमें नहीं आता । क्योंकि, ऐसा माननेसे द्रव्यसंस्पर्श
 दोषका प्रसंग होगा (अर्थात् अन्य द्रव्यका लक्षण अन्य द्रव्यमें चला जायगा, जो कि
 सर्वथा अनुचित है) । अब यहां कोई कहता है कि जितने कालमें एक आकाशके प्रदे-
 शको परमाणु अतिक्रमण करता है अर्थात् एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें गमन करता है
 उतने कालका नाम समय होता है यह शास्त्रमें कहा है, और इस हिसाबसे चौदह रज्जु
 गमन करनेमें जितने आकाशके प्रदेश हैं उतने समय ही लगने चाहिये; परन्तु शास्त्रमें
 यह भी कहा है कि पुद्गल परमाणु एक समयमें चौदह रज्जु पर्यन्त गमन करता है तो यह
 कथन कैसे संभव हो सकता है! । इसका खंडन करते हैं कि आगममें जो परमाणुका एक
 समयमें एक आकाशके प्रदेशमें गमन करना कहा है सो तो मन्द गमनकी अपेक्षामें है,
 और जो परमाणुका एक समयमें चौदह रज्जुका गमन कहा है वह शीघ्र गमनकी अपेक्षामें है,
 इस कारण परमाणुको शीघ्रगतिमें चौदह रज्जु प्रमाण गमन करनेमें भी एकही समय लगता
 है । इस विषयमें दृष्टान्त यह है कि जैसे जो देवदत्त मन्द गमन (धीरी चाल) में सौ योजन
 सौ दिनमें जाता है, वही देवदत्त विद्याके प्रभावसे शीघ्र गमन आदि करके १००
 सौ योजन एक दिनमें भी जाता है तो क्या उस देवदत्तको शीघ्रगतिसे सौ योजन गमन
 करनेमें सौ दिन लगेंगे ! किन्तु एक ही दिन लगेंगा । इसी प्रकार शीघ्र गतिसे चौदह रज्जु
 गमन करनेमें भी परमाणुको एकही समय लगता है । और भी यहां विशेष जानने योग्य
 है कि, यह जीव स्वयं (निज स्वभावसे) विषयोंके अनुभवसे रहित है तथापि अन्यके
 देखे हुए अथवा सुने हुए विषयके अनुभवको मनमें स्मरण करके जो विषयोंकी दृष्टा
 करता है उसको अपध्यान (बुग ध्यान) कहते हैं । उस विषयकी अभिज्ञाताको आदि है,

संपूर्ण विकल्पोका जो समूह है उससे रहित और आत्मज्ञानसे उत्पन्न स्वामाविक अनंद-
मुखके रसके आस्वादसे सहित जो है वह वीतराग चारित्र है । और जो उस वीतराग
चारित्रसे व्याप्त है वह निश्चय सम्यक्त्व तथा वीतराग सम्यक्त्व कहलाता है । वह निश्चय
सम्यक्त्व ही भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीनों कालोंमें मुक्तिका कारण है । के
काल तो उस निश्चय सम्यक्त्वके अभावमें सहकारी कारण भी नहीं होता है, इस का
वह कालद्रव्य हेय (त्याग करने योग्य) है । सो ही कहा है कि “बहुत कथनमें
प्रयोजन है? जो श्रेष्ठ मनुष्य भूत कालमें सिद्ध हुए हैं तथा अब होंगे, वह सब सम्पन्न
माहात्म्य है” । अब यहां तात्पर्य यह है कि कालद्रव्यके तथा अन्य द्रव्योंके विषयमें
कुछ विचारना हो वह सब परम आगमके अविरोधसे ही विचारना चाहिये और “
सर्वज्ञका वचन प्रमाण है” ऐसा मनमें निश्चय करके उनके कथनमें विवाद नहीं
चाहिये । क्योंकि, विवादमें राग तथा द्वेष उत्पन्न होते हैं और उन रागद्वेषोंसे
वृद्धि होती है ॥ २२ ॥

ऐसे कालद्रव्यके व्याख्यानकी मुख्यतासे पंचम स्थलमें दो सूत्र समाप्त हुए हैं ।
रीतिसे आठ गाथाओंके समुदायसे पांच स्थलोंसे पुद्गल आदि पांच प्रकारके
निरूपण रूपसे दूसरा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ॥

अतः परं सूत्रपञ्चकपर्यन्तं पञ्चास्तिकाव्याख्यानं करोति । तत्रादौ गायत्री
द्रव्यव्याख्यानोपसंहार उत्तरार्धेन तु पञ्चास्तिकाव्याख्यानप्रारम्भः कथ्यते ।

अप इसके पश्चात् पांच सूत्र पर्यन्त पंचास्तिकाव्याख्या व्याख्यान करते हैं ।
भी प्रथम गाथाके पूर्वार्धसे एही द्रव्योंके व्याख्यानका उपसंहार और उत्तरार्धसे
काव्यके व्याख्यानका आरंभ करते हैं ।

एवं छम्मेयमिदं जीवाजीवणभेददो दृश्यं ।

उत्तं कालविजुत्तं णादद्या पंच अत्थिकायाहु ॥ २३ ॥

गाथाभाषार्थः—इस प्रकार एक जीव द्रव्य और पांच अजीव द्रव्य ऐसे छह
द्रव्यका निरूपण किया । इन छहों द्रव्योंमेंसे एक कालके विना शेष पांच आ
जानने चाहिये ॥ २३ ॥

व्याख्या । “एवं छम्मेयमिदं जीवाजीवणभेददो दृश्यं उत्तं” एवं पूर्वोक्तप्रकारेण
भेदमिदं जीवाजीवणभेदतः सहासाद्रव्यमुक्तं कथितं प्रतिपादितम् । “कालविजुत्तं णा
द्या पंच अत्थिकाया हु” तदेव पञ्चविधं द्रव्यं कालेन विजुत्तं रहितं ज्ञातव्याः पञ्चास्तिका
व्याख्यानं पुनर्गति ॥

व्याख्यानार्थः—“एवं छम्मेयमिदं जीवाजीवणभेददो दृश्यं उत्तं” ऐसे पूर्वोक्त
प्रकारसे जीव तथा अजीवके भेदमें यह द्रव्य छह प्रकारका कहा गया । “कालविजुत्तं

“तद्व्या पंच अत्थिकाया दु” और कालरहित वही छह प्रकारका द्रव्य अर्थात् कालके
 नेना शेष पांच द्रव्योंको पांच अस्तिकाय समझना चाहिये ॥ २३ ॥

पञ्चेति संख्या ज्ञाता तावदिदानीमस्तित्वं कायत्वं च निरूपयति ।

अब अस्तिकायसंबन्धिनी पांच यह संख्या तो जानी हुई है ही, इसलिये अस्तित्व तथा
 अयत्नका निरूपण करते हैं ।

संति जदो तेणेदे अत्थिति भणंति जिणवरा जज्झा ।

काया इय बहुदेसा तत्त्वाया काय अत्थिकाया प ॥ २४ ॥

शाखाभावाधः—पूर्वोक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अघर्म तथा आकाश ये पांचों द्रव्य
 विद्यमान हैं इसलिये जिनेश्वर इनको ‘अस्ति’ (है) ऐसा कहते हैं और ये कायके समान बहु
 देशोंको धारण करते हैं इसलिये इनको ‘काय’ कहते हैं । अस्ति तथा काय दोनोंको
 तेनेसे ये पांचो ‘अस्तिकाय’ होते हैं ॥ २४ ॥

अस्या । “संति जदो तेणेदे अत्थिति भणंति जिणवरा” सन्ति विद्यन्ते यत एते जीवा-
 न्पर्यन्ताः पञ्च तेन कारणैर्नैवेदस्तीति भणन्ति जिणवराः सर्वज्ञाः । “जज्झा काया
 इय बहुदेसा तत्त्वाया काय अत्थिकाया प” यस्मात्काया इव बहुप्रदेशास्तन्मात्रकारणात्कायाश्च भणंति
 तेषु । “अत्थिकाया प” एवं न केवलं पूर्वोक्तकारणान्स्तित्वेन युक्ता अस्तिसंज्ञास्तथैव
 तेषु युक्ताः कायसंज्ञा भवन्ति किन्तु मयमेलापकेनास्तिकायसंज्ञाश्च भवन्ति ॥ इदानीं
 तेन कारणमयोजनादिभेदेऽप्यस्तित्वेन सहाभेदं दर्शयति । तथाहि शुद्धजीवास्तिकायां सिद्धत्वं
 न कर्तुं शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः, केवलज्ञानादयो विशेषगुणाः अस्तित्ववस्तुत्वागुणलघुत्वादयः
 तेषु युक्ताः । तथैवाव्यापधानन्तमुत्पादनन्तगुणव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयमारम्भोत्पादो-
 त्तविबाधरहितपरमस्वाध्वरूपस्य कारणसमयसारस्य व्ययस्तदुभयाधारभूतपरमात्म-
 नैवैतन् भौग्यमित्युत्पलक्षणैर्गुणपर्यायैकत्वादव्ययभौग्यैश्च सह मुक्तावस्थायां संज्ञाद्वय-
 नेनादिभेदेऽपि सत्त्वारूपेण प्रदेशरूपेण च भेदो नास्ति । कस्मादिति चेन्—मुक्तात्मस-
 त्त्वात् गुणपर्यायाणामुत्पादव्ययभौग्याणां चास्तित्वं सिद्धयति, गुणपर्यायोत्पादव्ययभौग्यस-
 त्त्वाच्च मुक्तात्मस्तित्वं सिद्धयतीति परस्परसाधितसिद्धत्वादिति । कायत्वं कथ्यते—बहुप्र-
 क्षाप्रचर्यं दृष्ट्वा यथा शरीरं कायो भवत्येव तथानन्तज्ञानादिगुणापारभूतानां लोकाकाशप्रमि-
 तासंख्येयशुद्धप्रदेशानां प्रचर्यं समूहं संपातं मेलापकं दृष्ट्वा मुक्तात्मनि कायत्वं कथ्यते ।
 तथा शुद्धगुणपर्यायोत्पादव्ययभौग्यैः सह मुक्तात्मनः सत्त्वारूपेण निश्चयेनाभेदो दर्शितस्तथा
 मयासंभवं संसारिजीवेषु पुद्गलपर्यायमाकाशकालेषु च द्रष्टव्यः । कालद्रव्यं विहाय कायत्वं
 तत् स्वरार्थः ॥ २४ ॥

व्याख्याधः—“संति जदो तेणेदे अत्थिति भणंति जिणवरा” जीवसे आदि लेके
 आकाश पर्यन्त ये पूर्वोक्त पांच द्रव्य विद्यमान हैं इसलिये सर्वज्ञ देव इनको “अस्ति”
 (है) ऐसा कहते हैं । “जज्झा काया इय बहुदेसा तत्त्वाया काय अत्थिकाया प” और काय अर्थात्

शरीरके सहज ये बहुत प्रदेशोंके धारक हैं इस कारणसे जिनेधर इनको 'काय' कहते हैं "अस्त्रिकाया य" पूर्वाक्त प्रकार अस्तित्वसे-युक्त ये पांचो केवल अस्तिसंज्ञक हैं, तथा कायत्वसे युक्त केवल काय संज्ञाके धारक ही नहीं हैं; किन्तु अस्ति और दोनोकी मिलानेसे "अस्त्रिकाय" संज्ञाके धारक होते हैं। अब इन पांचोंके संग, तथा प्रयोजन आदिमें यद्यपि परस्पर भेद है तथापि अस्तित्वके साथ अभेद है—जैसे शुद्ध जीवास्तिकायमें सिद्धत्व लक्षण शुद्ध द्रव्य व्यञ्जन पर्याय है, आदि विशेष गुण हैं, तथा अस्तित्व, वस्तुत्व और अगुरु—लघुत्व आदि सामान्य गुण और जैसे मुक्तिदशामें अन्त्याबाध अर्थात् बाधरहित अनन्त मुक्त आदि अनन्त व्यक्ति (प्रकटता) रूप कार्यसनमसारका उत्पाद, राग आदि विभावोंसे शून्य परम स्वरूप कारण समन्यसारका व्यय (नाश), और इन दोनोंके अर्थात् उत्पाद तथा लोकारभूत परमात्मारूप जो द्रव्य है उस रूपमें धीम्य (स्वित्त्व) है। इस प्रकार कश्चित् लक्षणयुक्त गुण तथा पर्यायोंमें और उत्पाद, व्यय तथा धीम्यके साथ संग, लक्षण तथा प्रयोजन आदिका भेद होनेपर भी सत्कारूपसे और मोक्षमें विभेदका द्वितीये साथ भेद नहीं है। क्योंकि, जीवोंकी मुक्तिअवस्थामें गुण, द्रव्य तथा संज्ञाओंकी और उत्पाद, व्यय तथा धीम्यरूप लक्षणोंकी विद्यमानता (सत्ता) निश्चिन्ता है। इस प्रकार गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय तथा धीम्यकी सत्ताके अस्तित्वको युक्त आत्मा जो है निश्चिन्ता है। इस प्रकार गुण पर्याय आदि युक्त आत्माकी और युक्त आत्माकी पर्यायकी सत्ताको परम्परा निश्चिन्ता है। अब इनके कायत्वका निरूपण करते हैं—जैसे प्रदेशोंमें स्थान होता है तिनको देवोंके जैसे शरीरको कायत्व कहते हैं अर्थात् देवोंमें स्थिति प्रदेश होनेमें शरीरको काय कहते हैं; उसी प्रकार अनन्त शरीरों में देवोंके कायत्व के मोक्षाकाशके समान अगम्यताय शुद्ध प्रदेश हैं उनके समूह, देवों के देवोंके देवोंके, मुक्त जीवोंमें भी कायत्वका व्यवहार अवस्था कथन होता है। इस प्रकार पर्यायोंमें तथा उत्पाद, व्यय और धीम्य लक्षणमें सहित रहनेवाले युक्त आत्मा निश्चिन्ता है। अनेक दशाया गया है, जेमेरी समझी औरोंमें तथा गुण, व्यय, उत्पत्ति, अस्तित्व और काय दशोंमें भी यथावत परम्परा अभेद देव देव पर्यायों में कायत्वको देवोंके अन्य सब दशोंके कायत्व रूपमें भी अभेद है। इस प्रकार कायत्व कहते हैं ॥ २३ ॥

अब कायत्वका अर्थ है पूरे कायत्वका अर्थ है अस्तित्व तथा विशेषतायान्ता की विशेषता कायत्व, विशेषता कायत्व कायत्व कायत्व विशेषता अस्तित्व विशेषता अस्तित्व।

अब कायत्वके अर्थका अर्थ है पूरे कायत्व कायत्व अस्तित्व तथा विशेषता कायत्व कायत्व अस्तित्व।

अनन्त करते हैं वह तो अग्रिम मायाही एक भूमिका है, और किन्तु द्रव्यके कितने नष्ट हैं वह दूसरी भूमिका प्रतिपादन करती है ।

होमि असंख्या जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे ।

मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥ २५ ॥

गाथाभाषार्थः—जीव, धर्म तथा अधर्म द्रव्यमें असंख्यात प्रदेश हैं और आकाशमें अनन्त हैं । मूर्ते (पुद्गल)में संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश हैं और कालके एकही नष्ट हैं इत्यन्तिमे काल काय नहीं है ॥ २५ ॥

व्याख्या । “होमि असंख्या जीवे धम्माधम्मे” भवन्ति लोकाकाशप्रमितसंख्येयप्रदेशाः प्रदी-
पसंदारविन्नामुत्तेऽप्येकतीवे, नित्यं व्यभावविस्तीर्णयोर्धर्माधर्मयोरपि । “अणंत आ-
से” अनन्तप्रदेशा आकाशे भवन्ति । “मुत्ते तिविह पदेसा” मूर्ते पुद्गलद्रव्ये संख्याता-
व्यातानन्तानूनां पिण्डाः स्कन्धा एव त्रिविधाः प्रदेशा भण्यन्ते न च क्षेत्रप्रदेशाः ।
नाम् पुद्गलस्यानन्तप्रदेशक्षेत्रेऽवस्थानाभावादिति । “कालस्सेगो” कालानुद्रव्यस्यैक एव
देशः । “ण तेण सो काओ” तेन कारणेन स कायो न भवति । कायस्यैकप्रदेशत्वविषये
ते प्रदर्शयति । तथा—किञ्चिदूनपरमसरीरप्रमाणस्य सिद्धत्वपर्यायस्योपादानकारणभूतं
ज्ञातमद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव । यथा वा मनुष्यदेवादिपर्यायोपादानकारणभूतं संसारि-
कद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव, तथा कालद्रव्यमपि समयरूपस्य कालपर्यायस्य विभागेनो-
पादानकारणभूतमविभाग्येकप्रदेश एव भवति । अथवा मन्दगत्या गच्छतः पुद्गलपरमाणो-
काशप्रदेशपर्यन्तमेव कालद्रव्यं गतेः सहकारिकारणं भवति ततो ज्ञायते तदप्येकप्रदे-
शेव । कश्चिदाह—पुद्गलपरमाणोर्गतिसहकारिकारणं धर्मद्रव्यं तिष्ठति, कालस्य किमायावत् ।
इं वक्ष्ये—धर्मद्रव्यं गतिसहकारिकारणे विद्यमानेऽपि मत्स्यानां जलधन्मनुष्याणां शक-
रोहणादिस्तसहकारिकारणानि बहून्यपि भवन्तीति । अथ सर्वं कालद्रव्यं पुद्गलानां गति-
कारिकारणं कुत्र भणितवान् । तदुच्यते । “पुग्गलकारण जीवा रोषा खलु काल कारणदु”
युक्तं धीबुद्धबुद्धाचार्यदेवैः पञ्चामिकायप्राभृते । अन्वयः कथ्यते । धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि
वानां कर्मनोक्तमपुद्गल गतेः सहकारिकारणं भवन्ति, अणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलानां तु काल-
व्यमित्यर्थः ॥ २५ ॥

व्याख्यानार्थः—“होमि असंख्या जीवे धम्माधम्मे” प्रदीपके समान संकोप तथा
सारसे युक्त एक जीवमें भी और सदा स्वभावसे विचारको प्राप्त हुए धर्म तथा अधर्म
न दोनों द्रव्योंमें भी लोकाकाशके प्रमाण असंख्यात प्रदेश होते हैं । “अणंत आयासे”
आकाशमें अनन्त प्रदेश होते हैं । “मुत्ते तिविह पदेसा” मूर्ते अर्थात् पुद्गल द्रव्यमें जो
ख्यात असंख्यात तथा अनन्त परमाणुओंके पिण्ड अर्थात् स्कन्ध है वे ही तीन प्रकारके
देश कहे जाते हैं, न कि क्षेत्ररूप प्रदेश तीनप्रकारके हैं । क्योंकि, पुद्गलके अनन्त प्रदेश
त्रयमें स्थितिका अभाव है । “कालस्सेगो” कालद्रव्यका एकही प्रदेश है । “ण तेण सो

२५॥ हेतुसे अर्थान् एक प्रदेशी होनेमें वह कालद्रव्य काय नहीं है। अब एक प्रदेशी होनेमें युक्ति कहते हैं। जैसे—अन्तिम शरीरमें किंचित् न्यून प्रमाणके सिद्धत्व पर्यायका उपादान कारणभूत जो शुद्ध आत्मा द्रव्य है वह सिद्धत्व पर्यायके ही है। अथवा जैसे मनुष्य, देव आदि पर्यायोंका उपादान कारणभूत जो संसार द्रव्य है वह उस मनुष्य, देव आदि पर्यायके प्रमाण ही है, उसी प्रकार कालद्रव्य समयरूप जो कालका पर्याय है उसका विभागसे उपादान कारण है तथा कि प्रदेश ही होता है। अथवा मन्द गतिसे गमन करते हुए पुत्रल परमाणुके एक प्रदेश पर्यन्त ही कालद्रव्य गतिका सहकारी कारण होता है, इस कारण जाना जाता कि वह काल द्रव्य भी एक ही प्रदेशका धारक है। अब यहां कोई कहता है कि पुत्रल परमाणुकी गतिमें सहकारी कारण तो धर्म द्रव्य विद्यमान है ही, इसमें कालद्रव्य का प्रयोजन है?। सो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि, धर्म द्रव्यके विद्यमान रहने में गतिमें जलके समान तथा मनुष्योंकी गतिमें गाड़ीपर बैठना आदिके समान पुत्रल गतिमें बहुतसे भी सहकारी कारण होते हैं। अब कदाचित् कहो कि “कालद्रव्य देवने पंचास्तिकाय नामक प्राभृतमें “पुगल कारण जीवा स्वंधा खलु काल कारण” ऐसा कहा है। इसका अर्थ कहते हैं कि धर्म द्रव्यके विद्यमान होते भी जीवोंकी गति फल, नोकर्य पुत्रल सहकारी कारण होते हैं और अणु तथा स्कन्ध इन भेदोंसे भेदते हैं ॥ २५ ॥

अथैकप्रदेशस्यापि पुत्रलपरमाणोरुपचारेण कायत्वमुपदिशति ।
अथ पुत्रल परमाणु यद्यपि एक प्रदेशी है तथापि उपचारसे उसको काय कहते हैं ऐक्य उपदेश करते हैं ।

एवंपदेसो वि अणू णाणाम्वधंपदेसदो होदि ।
बहुदेसा उचयारा तेण य काओ भणंति सच्चएहु ॥ २६ ॥

गाथाभावार्थः—एक प्रदेशका धारक भी परमाणु अनेक स्कन्धरूप बहुत प्रदेशों में बहु प्रदेशी होता है इस कारण सर्वत्र देव उपचारसे पुत्रल परमाणुको काय कहते हैं ॥ २६ ॥

व्याख्या—“एवंपदेसो वि अणू णाणाम्वधंपदेसदो होदि बहुदेसो” एकप्रदेशोऽपि पुत्रल परमाणुनानास्कन्धरूपबहुप्रदेशतः सकाशाद्बहुप्रदेशो भवति । “उचयारा” उपचाराद् देव हारयान् “तेण य काओ भणंति सच्चएहु” तेन कारणेन कायमिति सर्वथा भणन्तीति । तथाहि—यथायं परमात्मा शुद्धनिश्चयनयेन द्रव्यरूपेण शुद्धस्वैकोऽप्यनन्तरि । यत्तुस्थानीयरागद्वेषादयो परिणम्य नरनारकादिविभक्तं ।

भवति । तथा पुद्गलपरमाणुविभवावेनैकोऽपि दृष्टोऽपि रागद्वेषभ्यानीयबन्धयोग्यास्त्रिगुण-
व्यागुणाभ्यां परिलक्ष्य द्रव्युत्पादिसम्बन्धरूपविभावपर्यायैकद्विविधो बहुप्रदेशो भवति तेन
राग्येन बहुप्रदेशतत्त्वकायत्वकारणत्वादुपचारेण कायो भवत्यतः । अथ मने-यथा—पुद्गल-
परमाणोर्द्रव्यरूपैककस्यापि अणुकादिसम्बन्धपर्यायत्वेन बहुप्रदेशरूपं कायत्वं जातं तथा
हालापीरपि दृष्ट्येकैकस्यापि पर्यायेण ब्रह्मत्वं भवतीति । तत्र परिहारः—स्निग्धरूपभेदोक्तस्य
बन्धस्याभावात् भवति । तदपि कथं न । स्निग्धरूपत्वं पुद्गलस्यैव धर्मो यतः कारणादिति ।
अथ च पुद्गलरसा, कान्तस्याणुसंज्ञा कथमिति चेत् तत्रोत्तरम्—अणुद्रव्येन व्यवहारेण पुद्गला-
व्यवस्थेति निश्चयेन ॥ कर्णोद्गुणानां पूरणगलनयोगात्पुद्गला इति वस्तुतया पुनराणुद्रव्यः
सूक्ष्मवाचकः । तद्यथा वस्त्रेण प्रक्षेपेणाणुः अणुकोऽर्थः सूक्ष्म इति व्युत्पत्त्या परमाणुः । स च
सूक्ष्मवाचकोऽणुद्रव्यो निविभागपुद्गलविभवायां पुद्गलाणुं वदिति । अविभागिकालद्रव्यवि-
भवायां तु कालाणुं वदयतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

व्याख्यानार्थः—“एषपदेमो वि अणु णाणारोपपदेसदो होदि बहुदेसो” यद्यपि
पुद्गल परमाणु एक प्रदेशो है तथापि भानामकारके अणुक आदि स्कन्धरूप बहुत प्रदे-
शोके कारण बहु प्रदेशो होता है । “उचपारा” उपचार अर्थात् व्यवहार नपसे । “तेण प
काभो भणंति सच्चएहु” इसी हेतुसे सर्वज्ञ जिन देव उसको (पुद्गल परमाणुको) काय
कहते हैं । सोही पुष्ट करते हैं कि जैसे वह परमात्मा शुद्ध निश्चयनपसे द्रव्यरूपसे शुद्ध
तथा एक है तथापि अनादिकर्मबन्धनके बन्धसे स्निग्ध तथा रूक्ष गुणोंके स्थानापन्न
(एवञ्च) जो राग और द्वेष हैं उनसे परिणामको प्राप्त होकर, व्यवहारनपके द्वारा मनुष्य,
नारक आदि विभाव पर्यायरूपमें अनेक प्रकारका होता है; ऐसे ही पुद्गल परमाणु भी
यद्यपि स्वभावमें एक और शुद्ध है तथापि राग द्वेषके स्थानभूत जो बंधके योग्य स्निग्ध,
रूक्ष गुण हैं उनमें परिणमनको प्राप्त होके अणुक आदि स्कन्धरूप जो विभाव पर्याय हैं
उनमें अनेक प्रदेशोंका धारक होता है । इसी हेतुसे बहु प्रदेशात्कारूप कायत्वके कारणसे
पुद्गल परमाणुको सर्वज्ञ देव उपचारसे काय कहते हैं । अब यहांपर यदि ऐसा किसीका
मत हो कि जैसे द्रव्यरूपमें एक भी पुद्गल परमाणुके अणुक आदि स्कन्ध पर्यायरूपसे
बहु प्रदेशरूप कायत्व निम्न हुआ है ऐसेही द्रव्यरूपमें एक होनेपर भी कालाणुके समय,
घटिका आदि पर्यायोंसे कायत्व सिद्ध होता है । इस संकाका परिहार करते हैं कि स्निग्ध
रूक्ष गुण हैं कारण जिसमें ऐसे वक्का कालद्रव्यमें अभाव है इस कारण वह काय नहीं हो
सकता । सो भी क्यों ! कि स्निग्ध तथा रूक्षपना जो है सो पुद्गलका ही धर्म है इसलिये
कालमें स्निग्ध भूतात्वं है नहीं और उनके बिना बंध नहीं होता और बंधके बिना कालमें
कायत्व नहीं निम्न होता । कदाचित् कहो कि अणु यह पुद्गलकी संज्ञा है । कालका अणु
मज्ञा कैसे हुई तो इसका उत्तर मुनो—“अणु” इस शब्दमें व्यवहारमें पुद्गल कहे जाते हैं
और निश्चयमें तो वर्ण आदि गुणोंके पूरण तथा गलनके मन्वपसे पुद्गल कहे जाते हैं;

और यथार्थमें तो अणु शब्द मूढका वाचक है जैसे गम प्रयंत मद्यं (अर्थ) जो अणु हो सो परमाणु है। इस श्रुतिमें परमाणु शब्द जो है वह अनि गम कहनेवाला है। और वह मूढ वाचक अणु शब्द निर्विभाग पुद्गलादि विभागों है तब कालाणुको कहता है और अविभागी (विभागरहित) कालद्रव्य कहनेही तब ॥ २६ ॥

अथ प्रदेशलक्षणमुपलभयति ।
अथ प्रदेशका लक्षण दिमाते हैं ।

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणु उट्ठं ।
तंस्तु पदेसं जाणे सञ्चाणुट्ठाणदाणरिहं ॥ २७ ॥

गायामावार्थः—जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणुमें रोका जाना है उन्ही परमाणुओंको स्थान देनेमें समर्थ प्रदेश जानो ॥ २७ ॥

व्याख्या । “जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणु उट्ठं तं तु पदेसं जानो” त एवमाणमाकाशमविभागिपुद्गलपरमाणुना विट्ठत्वं व्याप्तं यदाकाशं तु सुट्ठं प्रदेशं जानो” शिष्य । कथंभूतं “सञ्चाणुट्ठाणदाणरिहं” सर्वाणूनां सर्वपरमाणूनां मूढमस्कन्धानां दानस्यावकाशदानस्याहं योग्यं समर्थमिति । यत् एतेत्यंभूतावगाहनशक्तिरस्याकाशे एवासंख्यातप्रदेशोऽपि लोके अनन्तानन्तजीवात्मैभ्योऽप्यनन्तगुणपुद्गला अवकाशं तथा चोक्तं जीवपुद्गलविषयेऽवकाशदानसामर्थ्यम् “एगणिगोदमरीरे जीवाद्वयन दिट्ठा । सिद्धेहि अणतगुणा सत्त्वेण त्रितीदकालेण ॥ १ ॥ उग्गाढगाढनिषिद्धो पुग्गल हि सत्त्वदो लोको । सुट्ठं हि यादरे हि य णंवाणंतंदि विविदिहि । २ ॥” अथ सर्वं मूढं लानां भेदो भवतु तान्नि विरोधः । अमूर्त्ताखण्डस्याकाशद्रव्यस्य कथं विभागकल्पनेति । रागाशुषाधिरहितसंयुतप्रत्यक्षमावतोत्पन्नमुष्माशून्यसाम्यादतृप्तस्य मुनियुगलस्यैव प्रमेकमनेकं वा । यथेकं तर्हि द्वयोरेकत्वं प्राप्नोति न च तथा । भिन्नं चेच्छा निर्विभागत्वं स्यापि विभागकल्पनमायातं पटाकाशपटाकाशमिन्यादिवदिति ॥ २७ ॥ एवं सूत्रार्थः इति श्रीनेमिचन्द्रसंज्ञान्तदेवविरचिते द्रव्यसङ्ग्रहग्रन्थे नमस्कारादिसप्तविंशति-
गायामिगन्तराधिकारत्रयसमुदायेन पदद्रव्यपञ्चासिकायप्रतिपादक-

व्याख्यार्थः—“जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणु उट्ठं तं तु पदेसं जानो” हे शिष्य । जितना आकाश विभागरहित पुद्गलपरमाणुमें व्याप्त है उन्ही रूपसे प्रदेश जानो । वह प्रदेश कैसा है कि “सञ्चाणुट्ठाणदाणरिहं” सब परमाणु हैं जो आकाशमें है इसी हेतुमें अमन्यमान प्रदेश प्रमाण लोकाकाशमें

जीवोंमें भी अनन्त गुणें पुद्गल अवकाशको प्राप्त होने हैं । सोही जीव तथा पुद्गलके लिये हमें अवकाश देनेका सामर्थ्य आगममें कहा है । “ एक निगोद पारीमें द्रव्य-
ज्योते सब भूतकायके निद्रोमें अनंत गुणें जीव दृष्ट हैं । १ । यह लोक सब तरफसे
रूप तथा अनन्तानन्त मृदम और बादर पुद्गलकायोंद्वारा अतिसंपन्नताके साथ भरा हुआ
॥ २ ॥ ” जब ब्रह्मविन् ऐसा मन हो कि “ नृनिमान् पुद्गलोंका तो अणु तथा द्युणुक
तथा आदि विभाग हो, इसमें कुछ विरोध नहीं है; परन्तु अतंसह तथा अगूर्ध आकाश
की विभाग करपना कैसे हो सकती है? ” तो नहीं । क्योंकि, राग आदि उपाधियोंसे
त निद्रा आत्मज्ञानकी मर्यादा भावनामें उत्पन्न जो सुस्वरूप अमृतरसा है उसके आत्मा-
में हम ऐसे मुनिपुंगव (दो मुनियों) के रहनेका स्थान एक है अथवा अनेक ? यदि
तीसरा निवासलेश एकही है तब तो दोनोंकी एकता हुई; परन्तु ऐसा नहीं है । और
॥ भिन्न मानो तो पटके आकाश तथा पटके आकाशकी तरह विभागरहित द्रव्यकी
विभागकल्पना मिथ्या हुई ॥ २७ ॥ ऐसे पांच सूत्रोंद्वारा पंच अमिकायोंका निरूपण करने-
का तृतीय अन्तराधिकार समाप्त हुआ ॥

इति धीनेमिषन्दसैदान्तिदेवविरचितद्रव्यमंमदस्य धीमसदेवनिर्मितसंस्कृतटीकायाः

जयपुरनिवासिशास्त्रीसुपाधिधारकश्रीजवाहरलालदि० जैनप्रणीतभाषा-

मुवादे नमस्कारादिसप्तविंशतिगाथाभिरन्तराधिकारत्रयसमु-

दायेन पदद्रव्यपञ्चान्तिकाप्रतिपादकनामा प्रथमोऽन्त-

राधिकारः समाप्तः ।

अतः परं पूर्वोक्तपदद्रव्याणां चूलिकारूपेण विस्तरम्याख्यानं क्रियते । तथा—

जब इसके पश्चात् पदद्रव्योंकी चूलिका (परिशिष्ट अथवा उपसंहार) रूपसे विशेष
व्याख्यान करते हैं । जो इस प्रकार है—

गाथा । परिणामि-जीव-मुक्तं, सपदेसं एय-स्वेस-किरियाय ।

णिघं कारण-कक्षा, सव्यगदमिदरं हि यपयेसे ॥ १ ॥

दुष्णिण्य एयं एयं, पंच-स्तिथ एय दुष्णिण चउरो य ।

पंच य एयं एयं, पदेसं एय उत्तरं णेयं ॥ युग्मम् ॥ २ ॥

गाथाभाषार्थः—पूर्वोक्त पद द्रव्योंमेंसे परिणामी द्रव्य जीव और पुद्गल ये दो हैं. चेतन

(१) यह गाथा सचरि संस्कृतटीकाकी प्रतियोगि नहीं है, तथापि टीकाकारने इसका आशय ग्रहण किया है
जयस्यंद्रजीवन द्रव्यसमष्टी वधनिका तथा मूल मुद्रित पुस्तकमें उपलब्ध होती है, अतः उपयोगी
तब, यहाँ लिख दी गई है । (२) ये दोनों गाथार्थ अन्य ग्रन्थकी हैं इसलिये इनमें मूलक्रमप्राप्तसंख्या
लगवाई गई है ।

सायपेक्षया धर्माधर्मौ च । जीवद्रव्यं पुनरेकजीवापेक्षया लोकपूरणावस्थां विद्यायासर्वगतं, राजीवापेक्षया सर्वगतमेव भवति, पुद्गलद्रव्यं पुनर्लोकरूपमहारङ्गभापेक्षया सर्वगतं, दोष-
लापेक्षया सर्वगतं न भवति, कालद्रव्यं पुनरेककालापुद्गव्यापेक्षया सर्वगतं न भवति, रूपदेशप्रमाणनानाकालापुर्विवक्षया लोके सर्वगतं भवति । “इदं हि यपवेसे” यद्यपि
द्रव्याणि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेनान्योन्यप्रवेशेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयनयेन चेतनादि-
कीयस्वरूपं न त्यजन्तीति ॥ अत्र पद्व्येषु मध्ये वीतरागचिदानन्दैकादिगुणसम्भावं शुभा-
त्मनोवचनकायव्यापाररहितं निजशुद्धात्मद्रव्यमेवोपादेयमिति भावार्थः ॥

व्याख्यानार्थः—“परिणामि” इत्यादि गाथाया व्याख्यान करते हैं—स्वभाव तथा विभाव
योग्यकरके परिणामसे परिणामी जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य हैं । और दोष (बाधकी)
र द्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार द्रव्य विभावव्यंजनपर्यायके
भावसे मुख्यतासे अपरिणामी हैं । “जीव” शुद्ध निश्चयनयसे निर्मल ज्ञान तथा दर्शन
भावका धारक जो शुद्ध चैतन्य है उसीको माण शब्दसे कहते हैं, उस शुद्ध चैतन्यरूप
णसे जो जीवता है वह जीव है; और व्यवहारनयसे कर्मोंके उदयसे उत्पन्न द्रव्य तथा
व रूप चार प्रकारके जो इन्द्रिय, चल, आयु और श्वासोच्छ्वास नामक माण हैं; उनमें
जीवता है, जीवैगा और पूर्वकालमें जीता था वह जीव है । सो एक है । और पुद्गल आदि
च द्रव्य जो हैं वे तो अजीव रूप हैं । “मूर्च्छ” अमूर्च्छ जो शुद्ध आत्मा है उससे विल-
ग स्पर्श, रस, गंध तथा घर्णवाली जो है उसको मूर्ति कहते हैं उस मूर्तिके सद्भावसे
मूर्ति उस मूर्तिका धारक होनेसे पुद्गल द्रव्य मूर्च्छ है; और जीव द्रव्य यद्यपि अनुपचरित
सम्पत्तयवहारनयसे मूर्च्छ है तथापि शुद्ध निश्चयनयसे अमूर्च्छ है; तथा धर्म, अधर्म
आकाश और कालद्रव्य अमूर्च्छ हैं । “संप्रदेश” लोकाकाशयात्रके प्रमाण अर्थात्प्राप्त
देशोंको धारण करना है लक्षण जिसका ऐसे जीव द्रव्यको आदि लेके पंचानुविद्या नामके
रक जो पांच द्रव्य हैं वे संप्रदेश (प्रदेशात्तरित) हैं, और बहुप्रदेशापना है लक्षण
जिसका ऐसा जो कायत्व उसके न होनेसे कालद्रव्य अप्रदेश है । “एष” द्रव्यार्थिकनयसे
धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक एक हैं और जीव, पुद्गल तथा काल ये तीन
व्य अनेक हैं । “स्वैच्छं” सब द्रव्योंको अवकाश (स्थान) देनेका सामर्थ्य होनेसे क्षेत्र
क आकाश द्रव्य है और शेष पांच द्रव्य क्षेत्र नहीं है । “किरियाय” एक क्षेत्रसे
सरे क्षेत्रमें गमन रूप अर्थात् द्रिष्टनेवाली अवस्था चलनेवाली जो है वह क्रिया है, वह
क्रिया जिनमें रहै वे क्रियावात् जीव तथा पुद्गल ये दो द्रव्य हैं, और धर्म, अधर्म, आकाश
या काल ये चार द्रव्य क्रियासे द्रव्य हैं । “निर्गच्छं” धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये
चार द्रव्य यद्यपि अर्थपर्यायतासे अनित्य है तथापि मुख्यवृत्तिसे इनमें विभावव्यंजन
योग्य नहीं हैं इसलिये ये नित्य हैं; और द्रव्यार्थिक नयसे जीव, पुद्गल ये दो द्रव्य यद्यपि
द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे नित्य हैं तथापि अशुद्धपुपरिणाम रूप जो स्वभाव पर्याय है

मन्त्रादिपरमार्थविषयजातद्विषयमममाधिकारो मिदमहमः श्चमुदात्तविषयोः
पुद्गलस्य हेतुत्वोक्तिः साधयेत् । पुद्गलपुद्गलस्यभाव इति बोध्यः । मिथ्यात्वसमाप्तिसम-
न्तादिति चेन्न पुद्गल इत्युच्यते केवलज्ञानाद्यनन्तगुणमदितत्त्वाद्भूतः । इति पुद्गलपुद्गलस्य
विषय इत्युच्यते । इति पदद्वयपुष्टिका समामा । चूलिकासम्बन्धः कथ्यते-चूलिका विशेष-
व्याख्यानम्, अथवा चूलानुसन्धानम्, चूलानुसन्धर्मकीर्णव्याख्यानं चेति ॥

अथ इत्येक उपरान्त फिर भी यह द्रव्योपेक्षे क्या देय है और क्या उपादेय है इस
रूपको विशेष रीतिसे विचारते हैं । उनमें पुद्गल निश्चयनयसे चक्रिरूपसे पुद्गल, पुद्गल
स्यभावके धारक सभी जीव हैं इस कारण सर्व जीवही उपादेय (माद्य) हैं । और
अतिरूपसे अर्हत्, मिद, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पांच परमेष्ठी ही उपादेय हैं ।
उन पांचोंमेंसे भी अर्हत्-मिद ये दो ही उपादेय हैं । इन दोनोंमेंसे भी निश्चयकी अपेक्षासे
मिद ही उपादेय हैं और परम-निश्चयसे भोगोष्ठी अभिलाषा आदि रूप जो संपूर्ण विक-
ल्पोके समुद्र हैं उनमें रहित जो परमध्यानका समय है उस समयमें सिद्धोंके समान जो
निज पुद्गल आत्मा है; वही उपादेय है । अन्य सब द्रव्य हेय हैं । यह तात्पर्य है । अब
'पुद्गलपुद्गलस्यभाव' इस पदका क्या अर्थ हैमो कहते हैं—मिथ्यात्व, राग आदि संपूर्ण विभावोंसे
रहित होनेके कारण आत्मा पुद्गल कहा जाता है । तथा केवलज्ञान आदि अनंत गुणोंसे
रहित होनेसे आत्मा पुद्गल कहा जाता है । इस प्रकार जहां जहां 'पुद्गलपुद्गलस्यभाव' यह पद
आवे वहां वहां सर्वत्र वही पूर्वोक्त लक्षण समझना चाहिये । इस रीतिसे पदद्रव्योंकी
चूलिका समाप्त हुई । अब 'चूलिका' इस सम्बन्ध अर्थ कहते हैं । "चूलिका" किसी
पदार्थके विशेष व्याख्यानको अथवा उक्त (कहे हुए) विषयमें जो अनुक्त (नहीं कहा
हुआ) है उसके व्याख्यानको तथा उक्त तथा अनुक्तसे मिला हुआ जो कथन है उसको
कहते हैं ॥

अतः परं जीवपुद्गलपर्यायरूपाणामाश्रयवादिसप्तपदार्थानामेकानुदात्ताध्यापयन्तं व्याख्यानं
करोति । तत्राह—“आसवबंधन” इत्याद्यधिकारसूत्रगाथैका, तदनन्तरमाश्रयपदार्थव्याख्यान-
रूपेण “आसवदि जेण” इत्यादिगाथात्रयं, ततःपरंबन्धव्याख्यानकथनेन “बन्धदि कम्म” इति
प्रभृतिगाथाद्वयं, ततोऽपि संबन्धकथनरूपेण “बेदणपरिणामो” इत्यादिसूत्रद्वयं, ततश्च निर्ज-
राप्रतिपादनरूपेण “जह् कालेण तवेण य” इति प्रभृतिसूत्रमेकं, तदनन्तरं मोक्षस्वरूपकथनेन
“सत्त्वस्स कम्मजो” इत्यादि सूत्रमेकं, ततश्च पुण्यपापद्वयकथनेन “मुहामुद” इत्यादि सूत्र-
मेकं चेत्येकादशगाथाभिः सप्तसप्तकसमुदायेन द्वितीयाधिकारे समुदायपाठनिका ।

अब इस चूलिकाके प्रधान जीव और पुद्गल द्रव्यके पर्याय रूप जो आसव
आदि सप्त ७ पदार्थ हैं उनका एकादश ११ गाथाओंद्वारा इस द्वितीय अधिकारमें
व्याख्यान करते हैं । उसमें प्रथम “आसवबंधन” इत्यादि २८ वीं एक गाथा अधिकार
सूत्ररूप है और उसके अनन्तर आसवपदार्थके व्याख्यानरूपसे “आसवदि जेण” इत्यादि

गुता है। वह बहिरात्मा आसव, बंध और पाप इन तीन पदार्थोंका कर्त्ता होता है; किसी समय जब कपाय और मिथ्यात्वका उदय मंद होता है तब भोगोंकी अभिलाषा रूप निदानके बंधसे पापसे संबध रखनेवाले पुण्यपदार्थका भी कर्त्ता होता है। तथा पूर्वोक्त बहिरात्मसे विपरीत लक्षणका धारक सम्यग्दृष्टि जीव है वह संवर, निर्जरा मोक्ष इन तीन पदार्थोंका कर्त्ता होता है, और यह सम्यग्दृष्टि जीव जिस समय राग द्वे विभावोंसे रहित जो परम सामायिक है उसमें स्थित रहनेको समर्थ नहीं होता है समय विषयकपायोंसे उत्पन्न जो दुर्घ्यान उसके बंचनार्थ अर्थात् न होनेके लिये संसारकी तिका नाश करता हुआ पुण्यसे संबध रखनेवाला जो तीर्थंकर नाम प्रकृति आदि विशिष्ट पदार्थ है उसका कर्त्ता होता है। अब कर्तृत्वके विषयमें नयोंके विभागका निरूपण है। मिथ्यादृष्टि जीवके जो पुद्गल द्रव्यपर्याय रूप आसव, बंध तथा पुण्य, पाप पदार्थ कर्त्तापना है सो अनुपचरित असंज्ञित व्यवहारनयकी अपेक्षासे है और जीव भाव (बन्धु,) आदिपर्याय रूप पदार्थोंका कर्तृत्व शुद्ध निश्चयनयसे है। तथा सम्यग्दृष्टि जीव जो द्रव्यरूप संवर, निर्जरा तथा मोक्ष पदार्थका कर्त्ता है; सो भी अनुपचरित अम- । व्यवहार नयसे ही है। तथा जीव भावपर्याय रूपोंका जो कर्त्ता है सो विवक्षित एक देश निश्चय नयसे है। और परम शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे तो “जो परमार्थ दृष्टिसे तो यह जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है और न बंध तथा मोक्षको करता है, इस र श्रीजिनेन्द्र कहते हैं” इस बचनमें जीवके बंध और मोक्षही नहीं है। इसलिये विवक्षितदेश शुद्ध निश्चयनयसे ही जीवभावपर्यायोंका जीवको कर्तृत्व है। अब आगमभाषासे कहते हैं सो दर्शाते हैं—निज शुद्ध आत्माके सम्यक् अद्वान, ज्ञान तथा आचरण से जो होगा उसे भव्य कहते हैं, इस प्रकारका जो भव्यत्व संज्ञाका धारक जीव है के पारिणामिक भावसे संबध रखनेवाली व्यक्ति कही जाती है अर्थात् भव्यके पारिणा- मिक भावकी व्यक्ति (प्रकटता) है। और अध्यात्मभाषामें द्रव्यशक्ति रूप जो शुद्ध है उसके विषयमें भावना कहते हैं। अन्य नामोंसे इसी द्रव्य शक्ति रूप पारिणामिक भावकी भावनाको निर्विकल्प ध्यान तथा शुद्ध उपयोग आदि कहते हैं। रना मुक्तिका कारण है। इसी कारण जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह ध्येय (ध्यान ने योग्य) रूप होता है और ध्यानरूप नहीं होता। ऐसा क्यों होता है यह पूछो तो यह है कि ध्यानभावना पर्याय है सो तो विनाशक धारक है और ध्येयभावना यि द्रव्यरूप होनेमें विनाशरहित है। तात्पर्य यहांपर यह है कि मिथ्यात्व, राग आदि विकल्पोक समूह है उनसे रहित जो निजशुद्ध आत्मा उसकी (स सद्व्यवभावमें उत्पन्न) आनन्द रूप एक मुक्त शानको गवना है

वही मुक्तिका कारण है। उसी भावनाको कोई पुरुष किसी (निर्विकल्प ध्यान, शुद्धोपयोग आदि रूप) अन्य नामके द्वारा कहता है ॥

इस पूर्वोक्त प्रकारसे अनेकान्त (स्याद्वाद) का आश्रय कर, कथन करनेसे अणु, बंध, पुण्य और पाप ये चार पदार्थ जीव और पुद्गलके संयोग परिणामरूप जो विनष्ट पर्याय है उससे उत्पन्न होते हैं। और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये तीन पदार्थ जीव और पुद्गलके संयोग रूप परिणामके विनाशसे उत्पन्न जो विवक्षित सभाष पर्याय है उससे उत्पन्न होते हैं, यह निश्चित हुआ ॥

तद्यथा—

अथ पूर्वोक्त पदार्थोंका निरूपण करते हैं, सो इस प्रकार है—

आसव यंचण संवर गिज्जर मो (सु) क्खो सपुण्णपावाजे ।
जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो ॥ २८ ॥

भाषाभाषार्थः—अब जो आसव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप ऐसे सात जीव, अजीवके भेदरूप पदार्थ हैं; इनको भी संक्षेपसे कहते हैं ॥ २८ ॥

व्याख्या । “आसव” निराश्रयस्वसंविचिचितिलक्षणशुभाशुमपरिणामेन शुभाशुमकर्मोपपन्नमास्रवः । “यंचण” यन्धातीतशुद्धात्मोपलम्भभावनाद्युतजीवस्य कर्मप्रदेशैः सह संश्लेषो बन्धः । “संवर” कर्मोपपन्ननिरोधसमर्पस्वसंविचिपरिणतजीवस्य शुभाशुमकर्मोपपन्नमंवरः । “गिज्जर” शुद्धोपयोगभावनासामर्थ्येन नीरसीमूतकर्मपुद्गलानामेकदेशागलनं निर्जरा । “मोक्षो” जीवपुद्गलसंश्लेषरूपबन्धस्य विषट्ठने समर्थः स्वशुद्धात्मोपलब्धिपरिणामो मोक्ष इति । “सपुण्णपावा जे” पुण्यपापसहिता ये “ते वि समासेण पभणामो” यथा जीवा जीवपदार्थी व्याख्यातौ पूर्व तथा तात्प्राग्यवादिपदार्थान् समासेन संक्षेपेण प्रभणामो वयं, ते च कथंभूताः “जीवाजीवविसेसा” जीवाजीवविशेषाः । विशेषा इत्यस्य कोऽयं पर्यायाः । चैतन्या अशुद्धपरिणामा जीवस्य, अचेतनाः कर्मपुद्गलपर्याया अजीवस्तेत्यर्थः ॥ एवमपि चारमूत्रगाथा गता ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थः—“आसव” आसवसे रहित जो निज आत्माका ज्ञान है उससे विरक्तन जो शुभ तथा अशुभ परिणाम है उस परिणामसे जो शुभ और अशुभ कर्मोंका आगमन है सो आसव है । “यंचण” बन्धसे रहित जो शुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्तिमत्तरूप जो भावना है उस भावनासे गिरे हुए जीवका जो कर्मके प्रदेशोंके साथ परस्पर बंध है, इसको बंध कहते हैं । “संवर” कर्मोंके आश्रयको रोकनेमें समर्थ जो निज आत्मज्ञान है उस ज्ञानसे परिणत जीवके जो शुभ तथा अशुभ कर्मोंके आनेका निरोध है वह संवर है । “गिज्जर” शुद्ध उपयोगकी भावनाके बन्धमें नीगमीमून (गच्छिहीन हुए) हुए ऐसे कर्मपुद्गलोंका जो एकदेशमें रहन अर्थात् नाश है उसको निर्जरा कहते हैं । “मोक्षो” जीव तथा पुद्ग-

जो परस्पर मेलन रूप बंध है उग बंधको नाश करनेमें समर्थ जो निजशुद्ध आत्माकी सत्तिरूप परिणाम है वह मोक्ष कहा जाता है । “सपुण्णपावा जे” पुण्य तथा पाप रहित जो “ते वि समासेण पभणामो” आसव आदि पदार्थ हैं उनको भी जैसे पहले जीव, अजीव कहे उसी प्रकार संशेषसे हम कहते हैं—और वे कैसे हैं कि “जीवाजीववि-सेसा” जीव तथा अजीवके विशेष अर्थात् पर्याय हैं । तात्पर्य यह कि चैतन्य आसव आदि तो जीवके अशुद्ध परिणाम हैं और अचेतन जो कर्मपुद्गलोंके पर्याय हैं वे अजीवके हैं ॥ इस प्रकार आसव आदि अधिकारसूत्रकी गाथा गई (समाप्त हुई) ॥ २८ ॥

अथ गाथात्रयेणाश्रवव्याख्यानं क्रियते, तत्रादौ भावाश्रवद्रव्याश्रवस्वरूपं सूचयति ।

अब तीन गाथाओंसे आसव पदार्थका व्याख्यान करते हैं, उसमें प्रथमही भावाश्रव तथा द्रव्याश्रवकी सूचना करते हैं ।

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।

भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥ २९ ॥

गाथाभाषार्थः—जिस परिणामसे आत्माके कर्मका आसव होता है उसको श्रीजिनेन्द्रद्वारा कहा हुआ भावाश्रव जानना चाहिये । और भावाश्रवसे भिन्न ज्ञानावरणादि रूप कर्मोंका जो आसव है सो द्रव्याश्रव होता है ॥ २९ ॥

व्याख्या । “आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावासवो” आस्रवति कर्म येन परिणामेनात्मनः स विरोधो भावाश्रवः । कर्माश्रवनिर्मूलनसमर्थशुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूतेन येन परिणामेनाश्रवति कर्म कस्यात्मनः स्वस्य स परिणामो भावाश्रवो विक्षेपः । स च कथंभूतः “जिणुत्तो” जिनेन वीतरागसर्वशेनोक्तः । “कम्मासवणं परो होदि” कर्माश्रवणं परो भवति ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामाश्रवणमागमने परः, पर इति कोऽर्थः—भावाश्रवादभूतो भिन्नो भावाश्रवनिमित्तेन नैलमृक्षितानां धूलिसमागम इव द्रव्याश्रवो भवतीति । ननु “आस्रवति येन कर्म” तेनैव पदेन द्रव्याश्रवो लब्धः, पुनरपि कर्माश्रवणं परो भवतीति द्रव्याश्रवव्याख्यानं किमर्थमिति यदुक्तं त्वया तत्र । येन परिणामेन किं भवति आस्रवति कर्म तत्परिणामस्य सामर्थ्यं दर्शितं न च द्रव्याश्रवव्याख्यानमिति भावार्थः ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थः—“आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावासवो” आत्माके जिस परिणामसे कर्मका आसव हो वह परिणाम भावाश्रव है, यह जानना चाहिये । भावार्थ यह है कि कर्माश्रवके दूर करनेमें समर्थ जो शुद्ध आत्माकी भावना है उस भावनाके प्रतिपक्षभूत (विरोधी) जिस परिणामसे अपने आत्माके कर्मका आसव होता है उस परिणामको भावाश्रव जानना चाहिये । वह भावाश्रव कैसा है कि “जिणुत्तो” जिन जो श्रीवीतराग सर्वज्ञ देव हैं उनसे कहा हुआ है । “कम्मासवणं परो होदि” कर्मोंका जो आस्रवण है वह पर होता है अर्थात् ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मोंका जो आश्रवण (आगमन) है वह पर है । पर शब्दका अर्थ यह है कि भावाश्रवसे भिन्न । भावार्थ—जैसे तेलसे चुपड़े

हुए पदार्थोंके धूलका समागम होता है उसी प्रकार मावात्मके निमित्तमे जीवके द्रव्यन होता है। अब यहां कोई शंका करते हैं कि “आसवद्वि जेण कम्मं” (जिममे कम्म आसव होता है) इसी पदमे द्रव्यात्मवकी प्राप्ति होगई फिर “कम्मामवणं पगे होई” (इसमे मित्र कर्मात्मव होता है) इस पदमे द्रव्यात्मवका व्याख्यान किम प्रयोजनके लि किया!। समाधान—यह शंका जो तुमने कही सो ठीक नहीं। क्योंकि, “जिम पणित्ते पया होता है कि कर्मका आत्मव होता है” यह जो कथन है उसमे परिणामका सन्दर्भ दिखाया गया है, द्रव्यात्मवका व्याख्यान नहीं किया गया। यह भावार्थ है ॥ २९ ॥

अथ भावात्मवस्वरूपं विशेषेण कथयति ।

अथ भावात्मवके स्वरूपका विशेष रीतिसे कथन करते हैं ।

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओऽथ विण्णेया ।

पण पण पणदस तिय चट्ठ कमसो भेदादु पुब्बस्स ॥ ३० ॥

गाथाभावार्थः—अब प्रथम जो भावात्मव है उसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, क्रोध और क्रोध आदि कषाय ऐसे पांच भेद जानने चाहिये; और मिथ्यात्व आदिके क्रममे पांच, पन्द्रह, तीन, और चार भेद समझने चाहिये। अर्थात् मिथ्यात्वके पांच भेद, अविरतिके पांच भेद, प्रमादके पन्द्रह भेद, योगके तीन भेद और क्रोध आदि कषायोंके चार भेद जानने ॥ ३० ॥

व्याख्या । “मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओ” मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयः । अभ्यन्तरे चीनरागनिजात्मवस्थानुभूतिरुचिबिषये विपरीताभिनिवेशजनकं बहिर्विषये तु परपीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादके च मिथ्यात्वं भव्यते । अभ्यन्तरे निजपरमात्मस्वरूपभावतोत्पन्नपरमसुखामृतरतिविलक्षणया बहिर्विषये पुनरप्रत्यक्षत्वेनाविरतिः । अभ्यन्तरे निष्प्रमादशुद्धात्मानुभूतिचलनरूपः बहिर्विषये तु मूलोत्पत्त्युपजनकश्चेति प्रमादः । निश्चयेन निष्क्रियस्यापि परमात्मनो व्यवहारेण वीर्यान्तर्गव्यशोचरमोत्पन्नो मनोवधनकायवर्गगायलम्बनः कर्मादानहेतुभूत आत्मप्रदेनपरिस्पन्दो योग इत्युच्यते । अभ्यन्तरे परमोपशममूर्तिकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावपरमात्मस्वरूपशोभकाकाः बहिर्विषये तु परेषां संश्लिष्टत्वेन कृत्वाभावैश्वर्याः क्रोधादयश्चेत्युक्तलक्षणाः पञ्चास्रवाः “अथ” अथो “विण्णेया” विक्षेया शातव्याः । कतिभेदान्ते “पण पण पणदस तिय चट्ठ कमसो भेदादु” पञ्चपञ्चपञ्चदशत्रिचतुर्थेष्टाः क्रमशो यवन्ति पुनः । तथाहि “एयं सुदिदरमी विवरीउ वण्णतावमो जिणो । ईदो विष संसइदो मइदिओ चैव अण्णाणी ।।” इति गाथाकथितलक्षणं पञ्चविधं मिथ्यात्वम् । हिमानृतमेयात्रक्षपरिग्रहाकाङ्क्षरूपेणारिगरिपि पञ्चविधा । अथवा मनःसहितपञ्चेन्द्रियप्रभृतिसृष्टिध्वान्दिष्टद्रव्याविराधनाभेदेन द्वादशविधा । “रिइहा तइय कमया ईदिपणिहाय मइय पणयो य । चट्ठ चट्ठ पणोमेवम हुंनि पमादादु पणगमा ।।” इति गाथाकथितक्रमेण पञ्चदश प्रमादाः । मनोवधनकायव्यापारभेदेन त्रिविधो योगः, विष्ठा-

य एवमभेदो वा । बोधमानमायालोभभेदेन कषायाम्रतवारः, कषायनोकषायभेदेन पञ्चविं-
शतिगुणा वा । एते सर्वे भेदाः कस्य संबन्धिनः “पुत्परस” पूर्वमूत्रोदितभावाभ्यवस्येत्यर्थः ॥१०॥

व्याख्यानार्थः—“मिच्छाविरदिपमादमोगकोषादभो” मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद,
योग तथा क्रोध आदि दृश्यमाण लक्षण तथा सत्यायुक्त भाव आसवके भेद हैं । इनमेंसे
सन्नगमें जो दीनराग निज आत्मतत्त्वके अनुभवमें रचि है उसके विषयमें विपरीत अभि-
निवेश (आग्रह) का उत्पन्न करनेवाला तथा बाह्य विषयमें परासंबन्धी शुद्ध आत्मतत्त्वसे
आदि लेवे, संपूर्ण द्रव्योंमें जो विपरीत अर्थान् उलटे आग्रहका उत्पन्न करनेवाला है,
उसको मिथ्यात्व कहते हैं । तथा अभ्यन्तरमें निज परमात्माके स्वरूपकी भावनासे उत्पन्न
जो परम सुस्वरूप अमृत है, उस परम सुरा में जो रति (प्रीति) है उससे विलक्षण, तथा
काय विषयमें मन आदिका धारण न करने रूप जो है सो अविरति है । तथा अभ्यन्तरमें
प्रमादरहित जो शुद्ध आत्मा है उसके अनुभवसे चलन (डिगाने) रूप और बाह्य
विषयमें जो मूल गुण तथा उत्तर गुण है उनमें अतिचार उत्पन्न करनेवाला प्रमाद
है । निश्चयसे ब्रह्मादित परमात्माके भी जो व्यवहारसे वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे
उत्पन्न तथा मन, वचन, और काय वर्गणाको अवलम्बन करनेवाला, कर्मोंके ग्रहण करनेमें
धारणभूत आत्माके प्रदेशोका परिस्पन्द (संबलन) है उसको योग कहते हैं । तथा अभ्य-
न्तरमें परम उपशम मूर्तिवाला तथा केवल ज्ञान आदि अनंत गुणोंरूप स्वभावका धारक
जो परमात्माका स्वरूप है उसमें क्षोभको उत्पन्न करनेवाले तथा बाह्य विषयमें परके संबंधी
पनेमें क्रूरता आदिके आवेग रूप जो क्रोध आदि हैं उनको कषाय कहते हैं ॥ इस प्रकार
पूर्वोक्त लक्षणके धारक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग तथा कषाय ये पांच भावास्तव हैं । ये
“अथ” पूर्वकथनके अर्थान् २९ वीं गाथामें कहे हुए कथनके पश्चात् “विणेया” जानने
चाहिये । अब इन पांच भावास्तवोंके कितने भेद हैं सो कहते हैं—“पण पण पणदस-
निय चहु कमसो भेदाहु” और उन मिथ्यात्व आदिके क्रमसे पांच, पांच, पन्द्रह, तीन
और चार भेद हैं । ये इस प्रकार हैं—“एकान्त बुद्धिदर्शक (एकान्त) मिथ्यात्व, विप-
रीताभिनिवेश (विपरीत) मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, संशयित (संशय) मिथ्यात्व
तथा अज्ञानमिथ्यात्व” ऐसे गाथामें कहे हुए लक्षणोंका धारक पांच प्रकारका मिथ्यात्व है ।
हिंसा, असत्य, चोरी, अन्न और परिग्रहमें इच्छारूप अविरति भी पांच प्रकारकी है, अथवा
यही अविरति मन और पांचों इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिरूप ६ भेद तथा छेकायके जीवोंकी
विराधनारूप ६ भेद ऐसे दोनोंके मिलानसे बारह प्रकारकी भी है । “चार विकथा, चार
कषाय, पांच इन्द्रिय, निद्रा और राग ऐसे पन्द्रह प्रमाद होते हैं ॥ १ ॥” इस गाथा-
कथित क्रमसे प्रमाद पन्द्रह हैं । मनोव्यापार, वचनव्यापार और कायव्यापार इन भेदोंसे
योग तीन प्रकारका है, अथवा विस्तारसे १५ प्रकारका है । क्रोध, मान, माया तथा लोभ

५८ संख्या प्रमाण जो उपरमकृतिये हैं उनके भेदोंसे तथा असंख्यात लोक प्रमाण जो विधी वाय नाम कर्म आदि उपरोचर मकृतिभेद है उनसे अनेक प्रकारका है । “जिण-
स्वादो” यह द्रव्यासयका सूत्र श्रीजिनेन्द्रदेवका कहा हुआ है । इस प्रकार गाथाका
र्थ है ॥ ३१ ॥

इस पूर्वोक्त प्रकारसे आसवके व्याख्यानकी तीन गाथाओंसे प्रथम स्थल समाप्त हुआ ।
अतःपरं सूत्रद्वयेन बन्धव्याख्यानं क्रियते । तत्रादौ गाथापूर्वार्धेन भावबन्धमुत्तरार्धेन ॥
व्यपन्नपररूपमावेदयति ।

अब इसके आगे दो गाथासूत्रोंसे बंध पदार्थका व्याख्यान करते हैं । उसमें प्रथम
गाथाके पूर्वार्धसे भावबंध और उत्तरार्धसे द्रव्यबंधके स्वरूपका उपदेश करते हैं ।

वज्रसिद्धि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो ।

कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥ ३२ ॥

गाथाभावार्थः—जिस चेतनभावसे कर्म बंधता है वह तो भावबंध है, और कर्म तथा
आत्माके प्रदेशोंका परस्पर प्रवेशन रूप अर्थात् कर्म और आत्माके प्रदेशोंका पकाकार होने
से दूसरा द्रव्यबंध है ॥ ३२ ॥

व्याख्या । “वज्रसिद्धि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो” बध्यते कर्म येन चेतनभा-
व स भावबन्धो भवति । समस्तकर्मवन्धविध्वंसनसमर्थारण्यैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमपै-
न्यविलासलक्षणज्ञानगुणस्य, अभेदनयेनानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतपरमात्मनो वा संबन्धिनी
। तु निर्मलानुभूतिलक्षप्रभूतेन मिथ्यालरागादिपरिणतिरूपेण वाऽशुद्धचेतनभावेन परि-
मैर्न बध्यते ज्ञानावरणादि कर्म येन भावेन स भावबन्धो भव्यते । “कम्मादपदेसाणं अण्णो-
णपवेसणं इदरो” कर्मात्मप्रदेशानामन्योन्यप्रवेशनमितरः । तेनैव भावबन्धनिमित्तेन कर्म-
प्रदेशानामात्मप्रदेशानां च क्षीरनीरवद्व्योन्यं प्रवेशनं संश्लेषो द्रव्यबन्ध इति ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थः—“वज्रसिद्धि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो” जिस चेतनके
विसे कर्म बंधता है; वह भावबंध है; अर्थात् संपूर्ण कर्मोंके बंधको नष्ट करनेमें समर्थ तथा
खण्ड (पूर्ण) एक प्रत्यक्ष ज्ञान स्वरूप जो परम चैतन्य विलास लक्षणका धारक ज्ञान
ण है, उससे अथवा अभेदनयकी विवक्षासे अनन्त ज्ञान आदि गुणोंका आधारभूत जो
रमात्मा है उससे संबंध रखनेवाली जो निर्मल अनुभूति (अनुभव) है उससे विषमभूत
विरोधी) अथवा मिथ्यात्व, राग आदिमें परिणति रूप अशुद्ध चेतन भाव स्वरूप जो
रिणाम है उससे जो कर्म बंधता है वह भावबंध कहलाता है । “कम्मादपदेसाणं अ-
णोण्णपवेसणं इदरो” कर्म और आत्माके प्रदेशोंका परस्पर प्रवेशनरूप दूसरा है,
अर्थात् उसी पूर्वोक्त भावबंधके निमित्तसे कर्मके प्रदेशोंका और आत्माके प्रदेशोंका जो दूध
या जलकी भांति एक दूसरेमें प्रवेश होना अर्थात् मिल जाना है, सो द्रव्यबंध है ॥ ३२ ॥

अथ तस्मै च बन्धस्य सायापूर्वार्धेन प्रकृतियन्धादिभेदचतुष्टयं कथयति, इत्यने
प्रकृतियन्धादीनां कारणं चेति ॥

अथ सायाके पूर्वार्धमेव उसी बंधके प्रकृतिबंध आदि चार भेदोंको कहते हैं
उत्तरार्धमेव उन प्रकृतिबंध आदिके कारणका कथन करते हैं ।

पण्डितिद्विदिअणुभागपदेसभेदाद् बहुविधो बंधो ।

जोगा पण्डिपदेसा द्विदिअणुभागा कसागदो हांति ॥ ११

सायाभाचार्यः—प्रकृति, सिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदोंसे बंध चार होते हैं । इनमें दोनोमे प्रकृति तथा प्रदेशबंध होते हैं और कसागदो स्थिति तथा अनुभाग होते हैं ॥ ३३ ॥

उपात्तराशः—“पयदिद्विद्विअणुभागपदेमभेदाद् चतुर्विधो बंधो” प्रकृति-
 १. गिदितिवंध, अनुमागबंध, और प्रदेशबंध इन भेदोंसे बंध चार ४ प्रकारका है । सो
 विशेषताये दिखलाने है—ज्ञानावरणी कर्मकी प्रकृति (स्वभाव) क्या है इस जिज्ञासामें
 प्र पट ॥ कि जैसे देवताको मुगबन्ध आवरण (पड़दा) आच्छादित कर लेता है
 सोन् टक लेता है उभी प्रकार ज्ञानावरणी कर्म ज्ञानको टक लेता है । दर्शनावरणीकी
 गति क्या है ? गजोंके दर्शनकी रूपापट जैसे द्वारपाल करता है उसी प्रकार दर्शनावरणी
 गति को गठी होने देता है । सातावेदनी और असातावेदनी नामक दो भेदोंका धारक
 वेदनी कर्म है उसकी क्या प्रकृति है ? मधु (सहज) से लिपटी हुई तलवारकी धारा
 टनेमें जैसे अरुण सुख और अधिक दुःख उत्पन्न होता है, वैसेही वेदनी कर्म भी अल्पसुख
 र अधिक दुःखको देनेवाला है । मघ (मदिरा) पानके समान हेय (त्यागने योग्य),
 दिय (ग्रहण करने योग्य) पदार्थके ज्ञानकी रहितता यह मोहनी कर्मकी प्रकृति है ।
 जैसे समान दूसरी गतिमें जानेको रोकना यह आयु-कर्मकी प्रकृति है । चित्रकार
 चेतना) पुरपके तुल्य नामाप्रकारके रूपका करना यह नामकर्मकी प्रकृति है । छोटे बड़े
 तन (पट आदि) को करनेवाले कुंभारकी भांति उच्च तथा नीच गोत्रको करना यह
 कर्मकी प्रकृति है । भंडारीके समान दान आदिमें विभ्र करना यह अन्तराय कर्मकी
 ति है । सो ही कहा है—“पट (वस्त्र), प्रतीहार (द्वारपाल) तलवार, मघ, बेड़ी,
 ररा, कुंभकार और भंडारी इन आठोंका जैसा स्वभाव है वैसाही क्रमसे ज्ञानावरण आदि
 कर्मोंका स्वभाव है ॥ १ ॥” इस प्रकार गाथामें कहे हुए आठ दृष्टान्तोंके अनुसार
 नि बंध जानना चाहिये ॥ तात्पर्य यह कि कर्मपुद्गलोंका ज्ञानावरण आदि शक्ति
 त हो जाना ही प्रकृतिबंध है । तथा बकरी, गौ, मदिषी (भैस) आदिके दुग्धोंमें
 दो प्रहर आदि अपने मधुर रसमें रहनेकी स्थिति कही जाती है अर्थात् बकरीका दूध
 महारतक अपने मधुर रसमें स्थित रहता है इत्यादि स्थितिका कथन है उसी प्रकार
 के प्रदेशोंमें जितने काल पर्यन्त कर्मसंबंधसे स्थिति है उसने कालको स्थितिवंध
 ना चाहिये । और जैसे उन पूर्वोक्त बकरी आदिके दूधोंमें तारतम्यसे (न्यूनाधिक-
) मधुर-रसमें प्राप्त शक्तिविशेषरूप अनुभाग कहा जाता है उसी प्रकार जीवके
 गोमें स्थित जो कर्मोंके प्रदेश है उनके जो सुख तथा दुःख देनेमें समर्थ शक्ति विशेष
 रसको अनुभाग बंध जानना चाहिये । और वह घाति कर्मसे संबंध रखनेवाली शक्ति
 (बेल), काष्ठ, हाड़, और पाषाण भेदसे चार प्रकारकी है-इसी प्रकार अशुभ अघा-
 १ कर्मों संबंधिनी शक्ति निब, कांजीर (फाली जीरी), विष तथा हालहल रूपसे चार
 रकी है । और शुभ अघातिया कर्मों संबंधी शक्ति मुड़, सांड, मिथ्री तथा अमृत इन भेदोंसे
 तरहकी है । एक एक आत्माके प्रदेशमें सिद्धोंसे अनन्तैकभाग (अनन्तमेंसे एक भाग)

संख्याके धारक और अभिव्यक्तिसे अनन्तगुणे परिमाणके धारक ऐसे प्रत्येक क्षणमें बंधको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रदेशबंधका स्वरूप है। अब बंधके कहते हैं—“जोगा पयडिपदेसा द्विदिअणुभागा कसायदो हुंति” योगसे प्रतीति प्रदेशबंध होते हैं और स्थिति तथा अनुभाग ये दो बंध कथाओंसे होते हैं। इसमें कारण यह है कि, निश्चयनयमे जो कियारहित भी शुद्ध आत्माके प्रदेश हैं उनका हारसे जो परिस्मरण (चलायमान करनेका) कारण है उसको योग कहते हैं। उन प्रकृति तथा प्रदेश नामक दो बंध होते हैं। और दोपरहित जो परमात्मा है, उसकी (ध्यान) के प्रतिबंध (रोकनेवाले) जो क्रोध आदि कथाय हैं उनके उदयमें और अनुभाग ये दो बंध होते हैं। कदाचित्—आमच और बंधके होनेमें मिथ्यात्व, रति, आदि कारण समान हैं। इसलिये आवस और बंधमें क्या भेद है? ऐसी शंका का यह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रथम क्षणमें जो कर्मस्फूर्णोंका आगमन है, वह तो आवस है कर्मस्फूर्णोंके आगमनके पीछे द्वितीय, तृतीय आदि क्षणोंमें जो उन कर्मस्फूर्णोंका जीवने शोमें स्थित होना है सो बंध है। यह भेद आसव और बंधमें है। जिस कारणसे कि येन कथाओंमें प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग नामक चार बंध होते हैं, उसी कारणसे नाश करनेके अर्थ योग तथा कथायका त्याग करके अपने शुद्ध आत्मामें मानना चाहिये। यह तात्पर्य है ॥ ३२ ॥

ऐसे बंधके व्याख्यान रूप जो दो गाथामूत्र हैं, उनके द्वारा द्वितीय अध्यायमें द्वितीय समाप्त हुआ।

अत्र कर्ष्य गाथाद्वयेन संवरपदार्थः कथ्यते । तत्र प्रथमगाथायां भावसंवरद्रव्यसंवरगत निरूपयति ।

अब इसके आगे दो गाथाओंमें संवर पदार्थका कथन करते हैं । उनमें प्रथम गाथा भावसंवर और द्रव्यसंवरके स्वरूपका निरूपण करते हैं ।

वेदणपरिणामो जो कम्मस्सासयणिरोहणे हेदु ।

सो भावसंवरो गल्लु दव्यामवरोहणे अपणो ॥ ३४ ॥

गाथाभाष्यार्थः—जो चेतनका परिणाम कर्मके आवसको रोकनेमें कारण है, उनके निश्चयमें भावसंवर कहते हैं । और जो द्रव्याणवको रोकनेमें कारण है सो द्रव्यसंवर द्रव्यसंवर है ॥ ३४ ॥

व्याख्या । “वेदणपरिणामो जो कम्मस्सासयणिरोहणे हेदु सो भावसंवरो गल्लु” चेतन परिणामो यः कथंभूतः कर्माश्रयनिरोधने हेतुः स भावसंवरो भवति गल्लु निरूपयति । “दव्यामवरोहणे अपणो” द्रव्यकथाश्रयनिरोधने हेतुः सो द्रव्यसंवर इति । तथापि निरूपयति । “सो भावसंवरो गल्लु दव्यामवरोहणे अपणो” यः चेतनपरिणामाश्रयः कर्माश्रयनिरोधने हेतुः सो भावसंवर इति । तथापि निरूपयति । “दव्यामवरोहणे अपणो” द्रव्यकथाश्रयनिरोधने हेतुः सो द्रव्यसंवर इति । तथापि निरूपयति । “सो भावसंवरो गल्लु दव्यामवरोहणे अपणो” यः चेतनपरिणामाश्रयः कर्माश्रयनिरोधने हेतुः सो भावसंवर इति । तथापि निरूपयति । “दव्यामवरोहणे अपणो” द्रव्यकथाश्रयनिरोधने हेतुः सो द्रव्यसंवर इति । तथापि निरूपयति ।

न्ययं तथा मोक्षमन्त्र, तथा उमवे, स्वस्वाभिभावमन्त्रेभ्यो ग्रहण किया हुआ स्त्री आदि
 तिन द्रव्य, सुदर्प आदि अचेतन द्रव्य और चेतन तथा अचेतनमं मिला हुआ मिश्र
 दार्भे इय प्रकार पूर्वांकि न्धाधोगाति जो ये है मो सब अशुभ है, इस प्रकार भावना
 िदिगि । उम भावनानाति जो पुरष है उमके उनके वियोग होनेपर भी उच्छिष्ट (जूंटे)
 तेजनोंके समान समत्व नहीं होता है । और उनमें समत्वका अभाव होनेमे अविनाशी
 नेत्र परमात्माही ही भेद तथा अमेदरूप रत्नत्रयकी भावनासे भावन करता (भावता) है
 और जैसे अविनश्य आत्माको भावता है, वैसे ही अक्षय अनन्त सुस्वरूप स्वभावका धारक
 तो मुक्त आत्मा है उसको प्राप्त होता है । इस प्रकार अशुभ भावना पूर्ण हुई ।

अथ निश्चयस्वरूपपरिणत भवशुद्धात्मद्रव्यं तद्विरहसहकारिणभूतं पञ्चपरमेष्ठिया-
 ऽपनञ्च शाणम्, तन्मातृहिभूता ये देवेन्द्रचक्रवर्तिमुभटकोटिभटपुत्रादिचेतना गिरिदुर्गा-
 र्त्तविवरमणिमन्त्रासाम्राज्ञादीपभादयः पुनरचेतनास्तदुभयात्मका मिभाभ्य मरणकालादौ
 ाटद्व्यां व्याघ्रपृदीतमृगबालभ्यैव महासमुद्रे पोतय्युत्पक्षिण इव शरणं न भवन्तीति विशे-
 णम् । तद्विज्ञाय भोगाकाहारूपनिदानपन्थादिनिगलम्यन्ते स्वसंबिधिसमुत्पन्नसुखामृतसाल-
 क्तेन स्वशुद्धात्मन्येवावलम्बनं कृत्वा भावनां करोति । यादृशं शरणभूतमात्मानं भावयति
 ाटदमेव सर्वकालशरणभूतं शरणागतब्रजपञ्चरसहस्रं निजशुद्धात्मानं प्राप्नोति । इत्यशर-
 णानुप्रेक्षा व्याख्याता ॥

अथ अशरण अनुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं । निश्चयस्वरूपमें परिणत जो निजशुद्धात्म-
 त्व है सो और उसका बहिरंग सहकारी कारणभूत जो पञ्चपरमेष्ठियोंका आराधन है सो
 ण है । उससे बहिर्भूत (भिन्न) जो देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, मुभट, कोटिभट और पुत्र
 नादि चेतन, पर्वत, किला, भुविवर (बहुरा), मणि, मन्त्र, आज्ञा, प्रसाद और औपध
 नादि अचेतन तथा चेतन और अचेतन इन दोनोंसे मिश्र, ये सब पदार्थ मरण आदिके
 समयमें जैसे महायन्में व्याघ्रसे पकड़े हुए हिरणके बचेको अथवा महासमुद्रमें
 वहावसे च्युत (रहित) हुए पक्षीके कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार शरण नहीं होते हैं,
 ॥ जानना चाहिये । और अन्य वस्तुको अपना शरण न जानकर, भोगकी बांछारूप
 नेदानबंध आदिके अवलम्बन (आधार)से रहित तथा ■ (आत्म) ज्ञानसे उत्पन्न
 सुस्वरूप अमृतका धारक जो निजशुद्ध आत्मा है, उसीका अवलम्बन करके, उसकी भावनाको
 करता है । और जैसे आत्माको यह शरणभूत भावता है, वैसेही सब कालमें शरणभूत
 और शरणमें आये हुएके अर्थ वज्रके पीअरेके समान जो निजशुद्ध आत्मा है, उसको प्राप्त
 होता है । इस प्रकार द्वितीय अशरण अनुप्रेक्षाका व्याख्यान हुआ ॥

अथ शुद्धात्मद्रव्यादितराणि सपूर्वापूर्वमिश्रपुद्गलद्रव्याणि क्षान्तावरणादिद्रव्यकर्मरूपेण
 त्रीरूपोपगार्थाशनपानादिपञ्चेन्द्रियविषयरूपेण धामन्तवारान् गृहीत्वा विमुक्तानीति द्रव्य-
 संसारः । स्वशुद्धात्मद्रव्यसंबन्धिसहजशुद्धलोकाकाशप्रमितसक्येयप्रदेशेभ्यो भिन्ना ये लोकोभे-

प्रदेशास्तत्रैकैकं प्रदेशं व्याप्यानन्तवारान् यत्र न जातो न मृतोऽयं जीवः । नास्तीति क्षेत्रसंसारः । शुद्धात्मानुभूतिरूपनिर्विकल्पसमाधिकालं विहाय दिसागरेण प्रमितोत्सर्पिण्यवसर्पिण्येकैकसमये नानापरावर्त्तनकालेनानन्तवारान् न जातो न मृतः स समयो नास्तीति कालसंसारः । अभेदरत्नत्रयात्मकसमाधिकालं गतो स्यात्सोपलब्धिलक्षणसिद्धपर्यायरूपेण योऽसावुत्पादो भवस्तं विहाय ध्यभवेपु तथैव देवभवेपु च । न रूपजिनदीक्षाबलेन नवमैवेयकपर्यन्तं "सको सकमहिस्सी दक्खिणईश यो योयतिपा य देवा तच्छ चुदा णिव्वुदिं जंति । १ ।" इति गाथाकथितपदानि । न्यन्यपदानि च त्यक्त्वा भवविभ्वंसकनिजशुद्धात्मभावनारहितो भावनासहितश्च सन्नयं जीवोऽनन्तवारान् जीवितो मृतश्चेति भवसंसारो ज्ञातव्यः ।

अब तृतीय संसारानुपेक्षा का वर्णन करते हैं । शुद्ध आत्मद्रव्यसे भिन्न अपूर्व तथा मिश्र ऐसे पुद्गल द्रव्य हैं; उनको ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म रूपसे पोषणके लिये भोजन पान आदि पांचों इन्द्रियोंके विषयरूपसे इस जीवने ग्रहण करके छोड़े हैं । इस प्रकार द्रव्यसंसार है । निजशुद्ध आत्मारूप द्रव्यसंवेधी शुद्ध लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश हैं, उनसे भिन्न जो लोकरूप क्षेत्रके हैं उनमें, एक एक प्रदेशको व्याप्त करके, जिस प्रदेशमें अनंत बार यह जीव नहीं हुआ हो और न मरा हो, वह कोई भी प्रदेश नहीं है । यह क्षेत्र संसार है । निज आत्माके अनुभव रूप निर्विकल्प समाधि (ध्यान) के समयको त्यागकर, दशकोटा मागर प्रमाण जो उत्सर्पिणी काल और दशकोटाकोदिसागर प्रमाण ही जो अर्धकाल है, उसके एक एक समयमें अनेक परावर्त्तन कालसे यह जीव यहांपर अनन्त न जन्मा हो और न मरा हो वह समय नहीं है । इस प्रकार काल संसार है । और त्रय मरूप ध्यानके बन्धने गिद्धगतिमें निज आत्माकी प्राप्ति लक्षण सिद्ध पर्यायका उपाद (जन्म) है उसके त्यागकर नारक, तिर्य्यग, मनुष्य और देवोंके भोगों में निज आत्माकी भावनामें रहित और भोग बाँछादि निदान सहित जो द्रव्यतपभरणरूप दीक्षा (मुनिपना) है उसके बन्धने नव प्रैवेयक पर्यन्त "प्रथम सगोका इन्द्र, प्रथम गंदी महा इन्द्राणी शची, दक्षिण दिशाके इन्द्र, लोकपाल और लोकान्तिक देव देव स्वर्गमें च्युत होकर निर्वाणि (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं । १ ।" ऐसे गाथामें कहे हुए हैं पद तथा अन्य अन्य भी जो आगममें निषिद्ध (मना दिये हुए) उपर्य्य उनको छोड़कर, भवका नाश करनेवाली जो निज आत्माकी भावना है उसमें रहित भवको त्याग करनेवाले निव्यन्त, राग आदि जो भाव हैं उनमें रहित हुआ वह जीव अनन्त जन्मा है और मरा है । इस प्रकार यह पूर्वकथित भवगणारका स्वल्प रूप संसार है ।

आदिके सद्भावके नाशके कारण जो विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावका प्राप्त
तत्त्व है उसके सम्यक् ग्रहण, ज्ञान और चाग्रियस्य जो सम्यग्दर्शन
उन्हींको इस जीवने प्राप्त नहीं किये। इस प्रकार भावमंगारका स्वरूप है।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण द्रव्यश्रेयस्कालमवभावरूपं पञ्चप्रकारं संसारं भावयति
संसारतीतस्वशुद्धात्ममवित्तिनाशहेतु संसारशुद्धिकारणेषु नि ४. ११११११
परिणामो न जायते, किन्तु संसारातीतसुगम्यादे रतो भूत्वा ११११११
विनाशकनिजनिरञ्जनपरमात्मन्येव भावनां करोति। तत्र यादृशमेव परमात्मानं
सादृशमेव लब्ध्वा संसारविलक्षणं मोक्षजननकाण्डं तिष्ठतीति। अयं तु विशेषः
गोदजीवान् विहाय पञ्चप्रकारसंसारव्याख्यानं ज्ञानव्ययम्। कस्मादिनि चेत्—नि ११११११
द्वीवानां कालत्रयेऽपि प्रसवं नाम्नाति। तथा चोक्तं—“अत्रिय अगंता जीवा जेहि
तसाण परिणामो। भावकलंकमुपउता गिगोदवाभं न सुंषंति। १।” ११११११
मनादिमिथ्यादृशोऽपि भरतपुत्राग्रयोर्विशेषाधिकृतवद्वतपरिमाणान्ते च नि ११११११
क्षपितकमाणं इन्द्रगोपाः संजातानेषां च पुञ्जीभूतानामुपरि भरतहस्तिन्या ११११११
मृत्वापि वर्द्धनकुमारादयो भरतपुत्रा जातान्ते च केनचिदपि मह न वदन्ति। ततो ११११११
समवसरणे भगवान् दृष्टो भगवता च प्राक्ननं वृत्तान्तं कथितम्। तच्छ्रुत्वा ते ततो ११११११
क्षणलोककालेन मोक्षं गताः। आचारापनादिष्यणे कथितमासे। इति ११११११

इस पूर्वोक्त प्रकारसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप जो पांच प्रकारका
है उसको भावते हुए इस जीवके संसारसे हटानेको कारण जो निजशुद्ध आत्माका
उसका नाश करनेवाले और संसारकी शुद्धिके कारणभूत ऐमे जो मिथ्यात्व, जर्जि
ममाद, कषाय और योग हैं उनमें परिणाम नहीं होता है; किन्तु वह जीव संसारसे बर्
(नहीं होनेवाला) जो सुख है उसके आम्बादमें रत (तत्पर) होके, निजशुद्ध अन्
ज्ञानके बलसे संसारको नष्ट करनेवाला जो निज निरञ्जन परमात्मा है, उसीमें भावना क
है। और इसके पश्चात् जैसे परमात्माको भावता है, वैसेही परमात्माको प्राप्त होके, सं
विलक्षण जो मोक्ष है, उसमें अनन्त काल निवास करता है ॥ यहाँपर विशेष यह है कि
नित्य निगोदके जीवोंको छोड़कर, इस उक्त पंच प्रकारके संसारमें परिभ्रमण नहीं करते हैं।
दिये, अर्थात् नित्य निगोद जीव इस पंच प्रकारके संसारमें परिभ्रमण नहीं करते हैं।
क्योंकि—नित्य निगोदवर्ती जो जीव हैं उनके तीन कान्ठमें भी त्रमता अर्थात् बेदर्शन
आदिका धारण करना नहीं है। सोही कहा है—“ऐमे अनन जीव हैं कि जिन्होंने त्रम दर्
यको प्राप्त ही नहीं किया। और भाव कान्ठों (अशुभपरिणामों)से भरपूर हैं, तिसमें वे
निगोदके निवासको नहीं छोड़ते हैं”। और यह बात अनुपम और अद्वितीय है कि “क
नादिकालसे मिथ्यादृष्टि ऐमे भी नौमो नेर्दम (९.२३) भरतजीके

निवासी थे और नित्य निगोदमें कर्मोंकी निर्जरा होनेसे वे इन्द्रगोप (सावनकी ली) नामक कीड़े हुए, सो उन सबके डेरपर भरतके हाथीने पैर रख दिया इससे रफर, भरतजीके यर्दनकुमार आदि पुत्र हुए और वे किसीके साथ भी न बोलते थे । शरण, भरतजीने समयसरणमें भगवान्से पूछा, वो भगवान्ने पुराना सब वृत्तान्त कहा । वे मुनकर, उन सब यर्दनकुमारादि पुत्रोंने तप ग्रहण किया और बहुत ही अल्प मोक्ष चले गये." यह कथा आचाराश्रयनाकी टिप्पणीमें कही हुई है । इस प्रकार अनुप्रेक्षा व्याख्यान समाप्त हुआ ॥

यैकत्वानुप्रेक्षा कथ्यते । तद्यथा—निश्चयरत्नत्रयैकलक्षणैकत्वभावनापरिणतस्यास्य न निश्चयनयेन सहजानन्दसुरसाधनन्तगुणाधारभूतं केवलज्ञानमेवैकं सहजं शरीरम् । ओऽर्थः स्वरूपं न च साधनानुमयोद्वारिकशरीरम् । तथैवात्तरीन्द्रध्यानविलक्षणपरमविकलक्षणैकत्वभावनापरिणतं निजारमतत्त्वमेवैकं सदा शाश्वतं परमहितकारि न च लग्नगोत्रादिः । तेनैव प्रकारेण परमोपेक्षासंयमलक्षणैकत्वभावनासहितः स्वशुद्धात्मपदार्थ एवाविनाशरहितकारी परमोऽर्थः न च सुवर्णाद्यर्थः । तथैव निर्द्वैकस्वसमाधिसमुत्पन्नकारपरमानन्दैकलक्षणानाकुलत्वस्वभावात्मसुरमेवैकं सुरं न चाकुलत्वोत्पादकेन्द्रियमेति । कस्मादिदं देहपद्भुजनसुवर्णाद्यर्थेन्द्रियसुरादिकं जीवस्य निश्चयेन निराकृतमिति पक्षो मरणकाले जीव एक एव मत्तन्तरं गच्छति न च देहदीप्ति । तथैव रोगव्याधे विषयकफायादिदुर्भ्यान्रहितः स्वशुद्धात्मैकसहायो भवति । तदपि कथमिति चेन् ? परमदेहो भवति तर्हि केवलज्ञानादिभ्यस्वरूपं मोक्षं नयति, अचरमदेहस्य तु संसारः श्लोकां कृत्वा देवेन्द्राद्यभ्युदयसुरं दत्त्वा च पञ्चान् पारम्पर्येण मोक्षं प्रापयतीत्यर्थः । चोक्तं—“सर्गं तवेण सख्यो, वि पावए किंनु ज्ञानजोयेण । जो पावइ सो पावइ, परं तासयं सोकरं । १ ।” एवमेकत्वभावनाफलं ज्ञात्वा निरन्तरं निजशुद्धात्मैकत्वभावना या । इत्येकत्वानुप्रेक्षा गता ॥ ३ ॥

॥ एकत्व अनुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं । यह इस प्रकार है—निश्चयरत्नत्रयरूप एक का धारक जो एकत्व है उसकी भावनामें परिणत इस जीवके निश्चयनयसे सहज द, सुख आदि अनन्त गुणोंका आधाररूप जो केवल ज्ञान है वह एक ही सहज भाव)से उत्पन्न शरीर है । यहां ‘शरीर’ इस शब्दका अर्थ स्वरूप समझना; न कि सातोंसे निर्मित औदारिक शरीर । इसी प्रकार आर्त और रौद्र इन दोनों ध्यानोसे विल- (उलटी) जो परमसामाधिक रूप एकत्व भावना है उसमें परिणत जो एक अपना तत्त्व है वही सदा अविनाशी और परम हितकर करनेवाला है; और पुत्र, मित्र, कलत्र हितके कर्ता नहीं । पूर्वोक्त रीतिसे ही परम उपेक्षा संयमरूप जो एकत्व ॥ है; उससे सहित जो निज शुद्धात्म पदार्थ है; वह एकही अविनाशी तथा हित-

और इस अन्यत्व अनुपेक्षामें 'देह आदिक पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, ये मेरे नहीं' ऐसे रूपसे वर्णन है। इस प्रकार एकत्व और अन्यत्व इन दोनों अनुपेक्षा-
या निषेधरूप ही विशेष (भेद) है और तात्पर्य तो दोनोंका एकही है।
अनुपेक्षा समाप्त हुई ॥ ५ ॥

मनुषित्वानुपेक्षा कथ्यते । तद्यथा—सर्वानुषिगुणशोणितकारणोत्पन्नत्वात्तथैव
समदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि घातवः" इत्युक्तानुषिसप्रधानमयत्वेन तथा नामिका-
रैरपि स्वरूपेणानुचित्वात्तथैव मूत्रपुरीषाद्यनुषिमलानामुत्पत्तिस्थानत्वाद्वागुचिरय-
त्तुल्यमनुषिकारणत्वेनानुषिः स्वरूपेणानुच्युत्पादकत्वेन चागुचिः । अगुचि गुणव्य-
तीतानामनुचित्योत्पादकत्वाच्चागुचिः । इदानीं अगुचित्वं कथ्यते—सहजगुह्यकं बल-
विगानामाधारभूतत्वात्स्वयं निश्चयेन अगुचिरूपत्वाच्च परमात्मैव अगुचिः । "जीवो ब्रह्म-
विश्वं चरिया हविर्ज जो जदिणो । तं जान ब्रह्मचरं विगुणपरदेहभसीण । १ ।"
कथितनिर्मलब्रह्मचर्यं सदैव निजपरमात्मनि स्थितानामेव लभ्यते । तथैव ब्रह्म-
अगुचिरितिवचनात्तथाविप्रब्रह्मचारिणामेव अगुचित्वं न च कामक्रोधादिरहानां जल-
पेडपि । तथैव च—“जन्मना जायते मृत्युः कियदा द्विज जयते । मुनेन ध्यात्रियो-
र्येण ब्राह्मणः । १ ।" इति वचनात्त एव निश्चयमुक्ताः ब्राह्मणाः । तथा चोक्तं
अगुचिगिरे प्रीति विगुह्यात्मनदीद्वानमेव परमअगुचित्वकारण न च छंकिवगद्वा
सत्तादिकम् । "आत्मा नदी संघमतोवपूर्णं सत्यावदा दीलनटा हयोमिः । तत्राभि-
सक्तपुत्र न बारिणा गुह्यपति चान्तरात्मा । १ ।" इत्यनुषित्वानुपेक्षा समाप्त । ६ ।

अगुचि अनुचित्व अनुपेक्षाका कथन करते हैं । यह इस प्रकार है—नामने अवशिष्ट
(पिताका वीर्य) और शोणित (माताका रुधिर) रूप कारणों उत्पन्न
रूप तथा "ब्रह्मा, रुधिर, मांस, मेद, जम्बि (हाड) मज्जा, और शुक्र ये धातु हैं"
(पूर्वोक्त अपवित्र जो सप्त ७ धातु हैं इनरूप होनेसे तथा मांस आदि भी व.
रूपरूपसे भी अगुचि होनेसे और इसी भाँतिगे मूत्र, पुरीष (विण) आदि
मलोकी उत्पत्तिका स्थान होनेसे यह देह अगुचि है । और केवल अगुचि वग-
उत्पत्त होनेके कारण ही यह अगुचि नहीं है, बिन्तु यह शरीर स्वस्वसे भी अगुचि
और अगुचि मूल आदिका जनक होनेसे भी अगुचि है । और परित्र जो शुभा-प,
मा, वग आदि हैं उनमें भी यह शरीर अपने समर्थसे अपवित्रता उत्पन्न करता है, इस
रण भी अगुचि है । अब पवित्रताका कथन करते हैं—सहज गुह्य ऐसे जो केवल सहज
दि गुण हैं उनका आधारभूत होनेसे और निश्चयसे अपने आप पवित्र होनेसे यह वग-
मा ही अगुचि है । "जीव ब्रह्म है, जीवहीमें जो गुचिबी चर्य (सृष्टि) होवे उसके
ही है परदेहकी सेवा जियेने ऐसा ब्रह्मचर्य जानो । १ ।" इस
मंत ब्रह्मचर्य है, तो उस परमात्मामें स्थित हुए जीवोंके ही

तत तथा क्रियारूप आत्मबोका स्वरूप जानना चाहिये । जैसे समुद्रमें अनेक रत्नोंके
होसे गेर हुए छिद्रसहित पोतका (जहाज) जलके प्रवेश होनेपर पतन होता है और
; पोत समुद्रके किनारे जो पत्तन (नगर) है उसको नहीं प्राप्त होता है । उसी प्रकार
चन्द्रर्शन, ज्ञान और चारित्र्यरूप जो अमूल्य रत्नोंके भाँड़े हैं उनसे पूर्ण इम जीव नामा
इहा पूर्वोक्त इन्द्रिय आदि आसबोंद्वारा जब कर्मरूपी जलमें प्रवेश हो जाता है तब
भाररूपी समुद्रमें ही पतन होता है । और केवलज्ञान अव्याबाध गुप्त आदि अनन्त
अमय रत्नोंसे पूर्ण जो मुक्ति स्वरूप बेलापत्तन (संसार समुद्रके किनारेका शहर) है
को यह जीव नहीं प्राप्त होता है । इत्यादि प्रकारसे आसबमें प्राप्त दोषोंका जो विचार
जाना है, वह आत्मवानुपेक्षा जाननी चाहिये ॥ ७ ॥

अथ संवरानुपेक्षा कायसे—यथा तदेव जलपात्रं छिद्रस्य सम्पत्ते सति जलप्रवेशमाभावे
निर्विघ्नेन बेलापत्तनं प्राप्नोति; तथा जीवजलपात्रं निजगुणद्वारात्मविक्रियेण इन्द्रियाद्याध्रव-
छद्वाणां सम्पत्ते सति कर्मजलप्रवेशमाभावे निर्विघ्नेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणरत्नपूर्णमुक्तिरंश-
प्रप्तं प्राप्नोतीति । एवं संवरनगुणानुचिन्तनं संवरानुपेक्षा ज्ञातव्या ॥ ८ ॥

अथ संवर अनुपेक्षाका वर्णन करते हैं । जैसे बही समुद्रका पोत अपने छिद्रोंके बंद हो
लेने जलके प्रवेशका अभाव होनेपर निर्विघ्नतापूर्वक बेलापत्तनको प्राप्त हो जाना है;
सी प्रकार जीवरूपी पोत अपने शुद्ध आत्माके ज्ञानके बलसे इन्द्रिय आदि आत्मवत्प
त्तियोंके बंद होनेसे कर्मरूप जलके प्रवेशका अभाव होनेपर निर्विघ्न केवलज्ञान आदि
अनन्त गुण रत्नोंसे पूर्ण जो मुक्तिरूप बेलापत्तन है, उसको प्राप्त होता है । ऐसे संवरमें
अपमान जो गुण हैं उनके वितरण स्वरूप संवर अनुपेक्षा जाननी चाहिये । ८ ।

अथ निजैरानुपेक्षां प्रतिपादयति । यथा कोऽप्यजीर्णदोषेण मलमश्वये जाते रायाद्वारं
कृत्वा किमपि हृदितकथादिकं मलपापकमिदीरकं चोपधं गृह्णाति । तेन च मलपापेन
ज्ञानां वातने गलने निजैरपे सति गुप्ती भवति । तथायं भव्यजीर्णोऽप्यजीर्णजनकाद्वार-
ज्ञानीयमिध्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन कर्ममलमश्वये सति मिध्यात्वरागादिकं त्यक्त्वा परमा-
ध्यानीयं जीवितमरणलाभालाभमुखदुःखादिसमभावनाप्रतिपादकं कर्ममलपापकं शुद्ध-
ज्ञानामिदीरकं च जितवचनीपधं सेवते । तेन च कर्ममलज्ञानं गलने निजैरपे सति गुप्ती
भवति । किञ्च यथा कोऽपि धीमानजीर्णकाले बहुभ्य जार्तं तदजीर्णं गतेऽपि न विमरति
तथाजीर्णजनकाद्वारं परिहरति तेन च सर्वदेव गुप्तीभवति । तथा विवेचिजनोऽपि "आत्मा
ता धर्मपरा भवति" इति वचनानुसृत्यतिष्ठते ये धर्मपरिणाया जायन्ते तान् ॥ १० ॥ गतेऽपि
विमरति । यतश्च निजपरमात्मानुभूतिबलं निजैराधे दृष्टभुतानुभूतभोगाकाद्वारविभाष-
णामपरितागरूपैः संबन्धैरात्मवचरिणाभैर्बलित इति । संबन्धैरात्मवचरण कथयते—“धर्मं य
त्यमकलमिदं संज्ञे त्वदृशो य इति संबन्धो । संसारदेहभोगेषु विरक्तभाषो य वेत्तते ॥१॥”
इति निजैरानुपेक्षागता ॥ ९ ॥

सात्त्विकोऽपोलोऽक्षरं विन्ध्यः । ऊर्ध्वभागे मध्यलोकोत्तेषसंविपलक्षयोजनप्रमाणमेतत्तमेधः
सात्त्विक ऊर्ध्वलोकां विन्ध्यः ॥

अब मोक्षानुपेक्षाका निरूपण करते हैं । यह इस प्रकार है, अनंतानन्त जो आकाश है
मके धातु ही मध्यमे प्रदेशमें पनोदधि, पनवात और तनुवात नामक तीन पवनोसे घेष्टित
देश हुआ), आदि और अंतरहित, अकृत्रिम, निश्चल और असांख्यता प्रदेशका धारक
है । उसके आकारका कथन करते हैं; नीचे मुन्न किये हुए अथे शृङ्गके ऊपर पूरा
शृङ्ग समेतर जैसा आकार होता है वैसा आकार लोकका है, परन्तु शृङ्ग गोल है और
लोक चौकोर है, यह भेद है । अथवा कैन्धवे है पाद (पैर) जिसने और कटिके तटपर
बसे है हाथ जितने ऐसे गड्ढे हुए मनुष्यका जैसा आकार होता है, वैसा लोकका आकार है ।
यह उभी लोककी ऊँचाई, मंदाई तथा विस्तारका निरूपण करते हैं—चौदह १४ रज्जु
प्रमाण ऊँचा तथा दक्षिण उत्तरमें सब जगह सात राजू लम्बा यह लोक है और पूर्व पश्चि-
म में नीचेके भागमें सात राजू विस्तार है और फिर उस अधोभागसे कम हानिरूपसे इतना
रुद्ध है कि, मध्य (बीच) में एक रज्जु विस्तारका धारक होजाता है फिर मध्यलो-
कके ऊपर ब्रह्मवृद्धिसे बढ़ता है सो बढ़ता २ ब्रह्मलोक अर्थात् पंचम स्वर्गके अन्तमें पाँच
रज्जुके विस्तारका धारक होता है । उसके ऊपर फिर भी घटता है सो यहाँतक घटता है
कि, लोकके अन्तमें जाकर, एक रज्जु प्रमाण विस्तारवाला होता है । और इसी लोकके
मध्यमें उद्भवल (ऊपरल) के मध्यभागसे नीचेकी ओर छिद्र करके एक बांसकी नाडी
रखली जावे उसका जैसा आकार होता है उसके समान एक चौकोर ब्रस नाडी है। यह एक
रज्जु व्यासकी धारक और चौदह रज्जु ऊँची जाननी चाहिये । उस ब्रस नाडीके अधो-
भागकी जो सात रज्जु हैं वे अधोलोक संबन्धी हैं और ऊर्ध्वभागमें मध्यलोककी ऊँचाई
संबन्धी लक्ष योजन प्रमाण मेलकी ऊँचाई है इससहित सात रज्जु ऊर्ध्व लोकसंबन्धी हैं ॥

अतः परमधोलोकः कथ्यते । अधोभागे मेरोराधारभूता रत्नप्रभास्या प्रथमपृथिवी । तस्या-
धोऽपः प्रत्येकमेकं रज्जुप्रमाणमाकाशं गत्वा यथाक्रमेण शर्करावालुकापट्टधूमतमोमहातमः-
संज्ञा पट्ट भूमयो भवन्ति । तस्मादधोभागे रज्जुप्रमाण क्षेत्रं भूमिरहितं निगोदादिपञ्चस्थावरवृत्तं
य विष्टति । रत्नप्रभादिपृथिवीनां प्रत्येकं पनोदधिपनवानतनुवातत्रयमाधारभूतं भवतीति विज्ञे-
यम् । कस्यां पृथिव्यां कति नगरविलानि सन्तीति प्रश्ने यथाक्रमेण कथयति तामु त्रिशत्य-
विंशतिपञ्चदशदशत्रिंशान्नैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ८४०००००० । अथ रत्न-
प्रभादिपृथिवीनां क्रमेण विण्डस्य प्रमाणं कथयति । विण्डस्य कोऽर्थः मन्द्रत्वस्य बाहुल्यस्येति ।
अतीविसहस्राधिकैकलक्षं अथैव द्वात्रिंशदष्टाविंशतिचतुर्विंशतिषोडशाष्टसहस्रप्रमितानि योज-
नानि ज्ञातव्यानि । तिर्यग्बिलानस्तु चतुर्दिग्भागे यद्यपि ब्रसनाट्यपेक्षयैकरज्जुप्रमाणस्यापि
प्रमरहितयद्दिर्भागे लोकान्तप्रमाणमिति । तथाचोक्तं “भुवामन्वे स्पृशन्तीनां लोकान्तं सर्वदि-
क्षु च” । अथ विस्तारं तिर्यग्बिलान्पर्यन्तमन्द्रत्वेन सन्दरावगाहयोजनसहस्राष्ट्रस्या मध्य-

देशोंके आदम (निवासमान) जानने चाहिये । पंचभागमें अमुर तथा राक्षसोंके निवास है । अद्भुत भागमें नारक है ॥

तत्र बहुभूमिकामादवद्भोऽपः सर्वपृथिवीषु स्वकीयम्वकीयबाहुल्यात् सकाशादथ उपरि पंचैकयोजनमदहरे बिदाथ मध्यभागे भूमिक्रमेण षटलानि भवन्ति त्रयोवसौकादशनवसप्तपञ्च-
द्वेष्टासंख्यानि, तान्येव सर्वममुदायन पुनरेकोनपञ्चाशत्प्रमितानि । षटलानि कोऽर्थे? प्रस्ता-
रा इन्द्रका अन्तर्भूमय इति । तत्र रत्नप्रभायां सीमन्तसंज्ञे प्रथमपटलविलारे वृलोकवत् यत्सं-
ख्येययोजनविस्तारवत् मध्यविले संख्येन्द्रकसंज्ञा । तस्यैव चतुर्दिग्विभागे प्रतिदिशं पङ्क्तिरूपेण-
संख्येययोजनविस्तारण्येकोनपञ्चाशद्विलानि । तथैव विदिष्पचतुष्टये प्रतिदिशं पङ्क्तिरूपेण
बाल्यदृष्टपरारिप्तद्विलानि तान्यव्यवसंख्यातयोजनविलाराणि । तेषामपि श्रेणीवद्धसंज्ञा । दिग्वि-
दिगष्टबाल्योपु पङ्क्तिरहितत्वेन पुनःप्रकारवत्कानिचित्संख्येययोजनविलाराणि कानिचिदसंख्ये-
ययोजनविलाराणि यानि निष्ठन्ति तेषां प्रकीर्णकसंज्ञा । इतीन्द्रकभेणीवद्धप्रकीर्णकरूपेण त्रिधा
नरका भवन्ति । इत्यनेन क्रमेण प्रथमपटलव्याख्यानं विरह्यम् । तथैव पूर्वोक्तैकोनपञ्चाश-
त्पटलेष्वयमेव व्याख्यानक्रमः किन्त्यष्टभेणिष्वेकैकपटलं प्रत्येकैकं हीयते यावत्सप्तमपृथिव्यां
चतुर्दिग्भागेष्वेकं पटलं विष्ठति ॥

उनमें घातसे खनोवाले मासाद (महल) के समान नीचे २ सब पृथिवियोंमें अपने२
बाहुष्यसे नीचे और ऊपर एक एक हजार योजनको छोड़कर, जो बीचका भाग है उसमें
भूमि (साटा, खण्ड, अथवा मंजिला) के क्रमसे पटल होते हैं । उनमें प्रथम भूमिमें तेरह,
दूसरीमें ग्यारह, तीसरीमें नव, चौथीमें सात, पांचवींमें पांच, छठीमें तीन और सातवीं पृथि-
वीमें एक; ऐसे ये सब समुदायसे उनचास ४९ संख्या प्रमाण पटल हैं । यहां पटल शब्दका
अर्थ प्रस्तार (सह) इन्द्रक अथवा अन्तर्भूमि है । उनमें रत्नप्रभा नामक प्रथम पृथिवीमें
सीमन्त नामक पहले पटलके विस्तारमें जो दार्द द्वीपके समान संख्येय (४५००००००)
योजन विस्तारका धारक बीचका बिल है उसकी इन्द्रक संज्ञा है । उस इन्द्रककी चारों
दिशाओंमें मल्लेक दिशामें असंख्येय योजन विस्तारके धारक उनचास बिल हैं । और
हमी प्रकार चारों विदिशाओंमें मल्लेक विदिशामें पङ्क्तिरूप (कतारदार) जो अद्भुतालीस
(४८) बिल हैं वे भी असंख्यात योजन प्रमाण विस्तारके धारक हैं, इन दोनों प्रकारके बिलोंकी
ही "श्रेणीवद्ध" यह मंज्ञा है अर्थात् इन्द्रककी दिशा और विदिशाओंमें जो पङ्क्तिरूप बिल
हैं वे श्रेणीवद्ध कहलाते हैं । चारों दिशा और चारों विदिशा इन आठोंके बीचमें जो पङ्क्ति
(सिलसिले) के बिना होनेसे बिस्तरे हुए पुष्पोंके समान कितनेही संख्यात योजन विस्तार-
के धारक और कितने ही असंख्यात योजन विस्तारके धारक बिल हैं, उनका "प्रकीर्णक"
यह नाम है । ऐसे इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णकरूपसे तीन प्रकारके नरक होते हैं । इस
पूर्वोक्त क्रमसे प्रथम पटलका व्याख्यान जानना चाहिये । इसी प्रकार पूर्वोक्त जो सातों
पृथिवियोंमें उनचास पटल हैं उनमें भी यही व्याख्यानका क्रम है; परंतु विशेष यह है कि,

तो मिथ्या स्वप्नप्रपञ्च है उसमें विविक्षण जो तीव्र मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र्य हैं इनसे मिलित आसंजी पंचेन्द्रिय, गरुड, पक्षी, सर्प, सिंह और भी पर्यायके धारक जो जीव हैं इनके जन्मोन्मत्तभादि पृथ्वीविषयोंमें गमन करनेकी शक्ति है अर्थात् आसंजी पंचेन्द्रिय प्रथम भूमिमें, गरुड दूसरीमें, पक्षी तीसरीमें, सर्प चौथीमें, सिंह पांचवीमें तथा स्त्रीका जीव छठी भूमिमें जाकर नारक हो सकता है और सानवी पृथिवीमें कर्मभूमिके उत्पन्न हुए मनुष्य और भगवन्मच्छ ही जा सकते हैं । और भी विशेष यह है कि यदि कोई जीव निरन्तर नरकमें जाता है तो प्रथम पृथिवीमें क्रमसे आठ बार, दूसरीमें सात बार, तीसरीमें ६ बार, चौथीमें पांच बार, पांचवीमें चार बार, छठीमें तीन बार और सातवीमें दो बारही जाता है । और सातवें नरकसे आये हुए जीव फिर भी एक बार उसी या अन्य किसी नरकमें जाते हैं, यह नियम है । सातवें नरकसे आये हुए जीव बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण और चण्डिकादिमेशक शालाका पुरुष नहीं होते । और चौथे नरकसे आये हुए तीर्थंकर, पांचवेंमें आये हुए चरमशरीरी, छठेमें आये हुए भावस्थिी मुनि और सातवेंमें आये हुए श्रावक नहीं होते हैं । तो क्या होते हैं ? तो कहते हैं—“नरकसे आये हुए जीव मनुष्य, निर्धन, कर्मभूमिमें संजीव्यास्त तथा गर्भज होते हैं और सातवें नरकसे आये हुए तिर्यग् गतिमें ही उत्पन्न होते हैं ॥

इदानीं नारक दुःखानि कथ्यन्ते । तथा-विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्-
भट्टानज्ञानानुष्ठानभावानोत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दकलक्षणसुरामृतसाक्षाद्वरहितः पञ्चेन्द्रिय-
विषयमुग्धास्वादलम्पटैर्मिथ्यादृष्टिर्जीवैर्यदुपाजितं नरकायुर्नरकगत्यादिपापकर्म तदुदयेन नरके
समुत्पन्न पृथिवीवस्तुष्वपि तीव्रोष्णदुःखं, पञ्चग्यां पुनरुपरितनत्रिभागे तीव्रोष्णदुःखमधोभागे
तीव्रशीतदुःखं, पक्षीसमूहोत्थितीव्रोष्णदुःखं समनुभवन्ति । तथैव छेदनभेदनकृष्णविदारण-
यन्त्रपीडनशूलारोदणादितीव्रदुःखं सहन्ते । तथा चोक्तं—“अच्छिन्निमीलणमिच्छं गन्धिं सुहृदं
दुःखमेव अनुब्रूय । गिरये गेरयिवाणं अहोनिशं पचमाणाणं ॥१॥” प्रथमपृथिवीप्रपञ्चयन्तमा-
सुरोदीरितं चेति । एवं ज्ञात्वा नारकदुःखविनाशार्थं भेदाभेदरजप्रयभावना कर्तव्या । संक्षेपे-
णाधोलोकस्याप्यानं ज्ञातव्यम् ॥

अब नारक जीवोंके दुःखोंका कथन करते हैं । यह इस प्रकार है—विशुद्ध ज्ञान तथा दर्शनरूप स्वभावका धारक जो निजशुद्ध परमात्मतत्त्व है उसके सम्यक् भट्टान, ज्ञान और आचरणकी भावनासे उत्पन्न जो विकाररहित परम आनन्दमय सुखरूपी अमृत उसके आस्थासे रहित और पांचों इन्द्रियोंके विषयोंके सेवनमें लम्पट ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोंने जो नरक आयु तथा नरक गति आदि रूप पाप कर्म उपाजन किया उसके उदयसे वे नरकमें उत्पन्न होते हैं । यहाँपर पहलेंकी जो चार पृथिवीयें हैं उनमें तीव्र उष्ण (गर्मी) का दुःख, और पांचवी पृथिवीमें ऊपरके त्रिभागमें अर्थात् पंचम पृथिवीके पहले तीसरे हिस्सेमें तीव्र उष्णका दुःख और नीचेके जो दो त्रिभाग हैं उनमें तीव्र शीत (ठंड वा जाड़े) का दुःख

७. गान्ध्याग, भागनाग, भूपणाग तथा राग एवं मदको उत्पन्न करनेवाले रसांग इन ७ नामोंके धारक दश प्रधारके वन्यवृक्ष हैं । वे भोगभूमि क्षेत्रको व्याप्त करके, स्तित हैं । इत्यादि परमाणमकथित प्रकारमें अनेक आश्चर्य समझने चाहिये । और उसी मेरु-पर्वतमें निकले हुए दक्षिण दिशामें जो 'दो गजदन्त' हैं उनके मध्यमें उत्तर कुरुके समान देवपुर नामक उत्तम भोग भूमिका क्षेत्र जानने योग्य है ॥

तन्नादेश मेरुपर्वतापर्वतानां दिशि पूर्वोपरेण द्वाविंशतिसहस्रयोजनविष्कम्भं तत्रेदिकं भद्रशालवनमस्त । तस्मात्पूर्वदिग्भागे कर्मभूमिसंज्ञः पूर्वविदेहोऽस्ति । तत्र नीलकुलपर्वताद-
क्षिणभागे शीतानद्या वत्सरभागे अतोः प्रदक्षिणेन यानि क्षेत्राणि तिष्ठन्ति तेषां विभागः
१. तथाहि—मेरोः पूर्वदिशाभागे या पूर्वभद्रशालवनवेदिका तिष्ठति तस्याः पूर्वदिग्भागे
क्षेत्रं भवति, तदनन्तरं दक्षिणोत्तरायतो वक्षारनामा पर्वतो भवति, तदनन्तरं क्षेत्रं तिष्ठति,
२. विभङ्गा नदी भवति, ततोऽपि क्षेत्रं, तस्मादपि वक्षारपर्वतस्तिष्ठति, ततश्च क्षेत्रं,
ततोऽपि विभङ्गानदी, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततः परं वक्षारपर्वतोऽस्ति, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा
नदी, ततश्च क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, तदनन्तरं पूर्वसमुद्रसमीपे देवारण्यं तस्य
वेदिका चेति नवभित्तिभिरष्टक्षेत्राणि ज्ञातव्यानि । तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—कच्छा १
सुकच्छा २ महाकच्छा ३ कच्छावती ४ आवर्ता ५ लाङ्गलावर्ता ६ पुष्कला ७ पुष्कलावती
८ चेति । इदानीं क्षेत्रमध्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते । क्षेत्रा १ क्षेत्रपुरी २ रिष्टा ३
गिष्टपुरी ४ गङ्गा ५ मञ्जूषा ६ औपधी ७ पुण्डरीकीणी चेति ॥

उसी मेरुपर्वतसे पूर्व दिशामें पूर्व पश्चिमको बार्दस हजार योजन विष्कम्भका धारक वेदी-
सहित भद्रशाल वन है । उसमें पूर्व दिशामें कर्मभूमि संज्ञक पूर्व विदेह है । वहां नील
नामक गुलाबलसे दक्षिण दिशामें और शीता नदीके उत्तर भागमें मेरुकी प्रदक्षिणा रूप जो
क्षेत्र हैं उनके विभागोंका कथन करते हैं । सो इस प्रकार है—मेरुसे पूर्वदिशाके भागमें जो
पूर्वभद्रशालवनकी वेदिका स्तित है, उससे पूर्व दिशाके भागमें प्रथम क्षेत्र है, उसके पीछे
दक्षिण उत्तर लंबा वक्षार नामक पर्वत है, उसके पीछे क्षेत्र है, उसके भी आगे विभंगा
नाम नदी है, उससे भी आगे क्षेत्र है, उस क्षेत्रके अनन्तर भी वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र
है, फिर भी विभंगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत है, उसके
आगे क्षेत्र है, उससे आगे फिर विभंगा नदी और फिर क्षेत्र है, उससे आगे फिर वक्षार
पर्वत है, फिर क्षेत्र है, उसके अनन्तर पूर्व समुद्रके पास जो देवारण्य नामक वन है; उसकी
वेदिका है । ऐसे नौ भित्तियों (दीवारों) से आठ क्षेत्र जानने चाहिये । उनके क्रमसे नाम
कहते हैं—कच्छा १, सुकच्छा २, महाकच्छा ३, कच्छावती ४, आवर्ता ५, लाङ्गला-
वर्ता ६, पुष्कला ७, और पुष्कलावती ८, ऐसे यह क्रमानुसार आठों क्षेत्रोंके नाम हैं । अब
क्षेत्रोंके मध्यमें स्थित जो नगरियें हैं, उनके नाम कहते हैं । वे क्रमसे
क्षेत्रपुरी २ रिष्टा ३ गिष्टपुरी ४ गङ्गा ५ मञ्जूषा ६ औपधी ७ पुण्डरीकीणी ८

अत ऊर्ध्वं शीताया दक्षिणदिशि गन्तव्यं निषधपर्वतानुसरन्निभागे यत्नवृक्षैर्गता नन्व
 ध्यन्ते । तथाया—पूर्वांका या देवारण्यवेदिका तस्याः पश्चिमभागे क्षेत्रमस्ति, तदन्त-
 रं यक्षारपर्वतस्ततः परं क्षेत्रं, ततो विमङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, तस्यादक्षारपर्वतस्ततः परं,
 विमङ्गा नदी ततः क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतः, ततः क्षेत्रं, ततो विमङ्गा नदी, तदनन्तरं
 ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततो मेरुदिग्भागे पूर्वमद्रशासनवेदिका मयूनि नदी
 मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि शान्त्यानि । इदानीं तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—पद्मा १, सुभा २,
 महावच्छा ३, वच्छावती ४, रम्या ५, रम्यका ६, रमणीया ७, मङ्गलावती ८ चेति । तन्म-
 ध्यस्थितनगराणां नामानि कथ्यन्ते—सुसीमा १, कुण्डला २, अपराजिता ३, प्रभाकरी
 ४, पद्मा ५, सुभा ६, रत्नसंघया ८ चेति, इति पूर्वविदेहक्षेत्रविभागव्याख्यानं मन्यते ।

इसके आगे शीता नदीसे दक्षिण भागमें निषध पर्वतमें उत्तर भागमें जो आठ क्षेत्र
 उनको कहते हैं । वे इस प्रकार हैं—पहले कही हुई जो देवारण्यकी वेदी है उसके दक्षिण
 भागमें क्षेत्र है, तदनन्तर यक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, फिर विमङ्गा नदी है, इसके
 पश्चात् क्षेत्र है वक्षार पर्वत है, और फिर क्षेत्र है, तत्पश्चात् विमङ्गा नदी है, फिर क्षेत्र है
 पुनः वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, फिर विमङ्गा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, फिर
 वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, उससे आगे मेरुकी (उत्तर) दिशाके भागमें पूर्वमद्रशा-
 सनकी वेदी है । ऐसे नौ भित्तियोंके मध्यमें आठ क्षेत्र जानने योग्य हैं । उन क्षेत्रोंके क्रम
 नाम कहते हैं—वच्छा १, सुवच्छा २, महावच्छा ३, वच्छावती ४, रम्या ५, रम्यका ६,
 रमणीया ७ और मङ्गलावती ८ । अब उन क्षेत्रोंमें स्थित जो नगरिये हैं उनके नाम कहते
 हैं—सुसीमा १, कुण्डला २, अपराजिता ३, प्रभाकरी ४, अंका ५, पद्मा ६, सुभा ७, और
 रत्नसंघया ८ । इस प्रकार पूर्वविदेहक्षेत्रके विभागोंका व्याख्यान समाप्त हुआ ॥

अथ मेरोः पश्चिमदिग्भागे पूर्वापरद्वारविंशतिसहस्रयोजनविष्कम्भो पश्चिममद्रशालवनान्तरं
 पश्चिमविदेहस्तिष्ठति । तत्र निषधपर्वतादुत्तरदिग्भागे शीतोदानद्या दक्षिणभागे बार्ह-
 क्षेत्राणि तेषां विभाग उच्यते । तथाहि—मेरुदिग्भागे या पश्चिममद्रशालवनवेदिका विदेह
 तस्याः पश्चिमभागं क्षेत्रं भवति, ततो दक्षिणोत्तरायतो वक्षारपर्वतस्तिष्ठति, तदनन्तरं क्षेत्रं,
 ततो विमङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः परं क्षेत्रं, ततो विमङ्गा नदी, ततः क्षेत्रं,
 ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, तदनन्तरं पश्चिमसमुद्रसमीपे यद्वक्षारपर्वतं तिष्ठति तन्म-
 ध्ये वेदिका चेति नवभित्तिषु मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि भवन्ति । तेषां नामानि कथ्यन्ते । पद्मा १, सु-
 भा २, महापद्मा ३, पद्माकावती ४, शंखा ५, नलिना ६, कुमुदा ७, सलिला ८ चेति । तन्म-
 ध्यस्थितनगराणां नामानि कथयन्ति—अशोपुरी १, सिंहपुरी २, महापुरी ३, विजयापुरी ४,
 अरजापुरी ५, विरजापुरी ६, अशोकापुरी ७, विशोकापुरी ८ चेति ॥

अथ मेरुमें पश्चिम दिशाके भागमें पूर्व पश्चिममें बार्हम हजार योजन विष्कम्भका पश्चिम
 पश्चिम मद्रशालवनके पश्चात् पश्चिम विदेह है । वहा निषध पर्वतसे उत्तरके विभागमें और
 शीतोदा नदीके दक्षिण विभागमें जो क्षेत्र हैं, उनका विभाग कहा जाता है । सोही दिशा

ये विभाग (अंग) भागमें जो पश्चिम भद्रशास्त्रनदी वेदिका है, उसके पश्चिम
 क्षेत्र है, उसके पूर्व दिशा में उत्तर नदी बंधार पर्वत है, उसके अनन्तर क्षेत्र है,
 फिर विभगा नदी है, और फिर क्षेत्र है, उसके आगे बंधार पर्वत है, उसके पश्चात् क्षेत्र
 है, फिर विभगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, उस क्षेत्रके पश्चात् बंधार पर्वत है,
 पश्चात् क्षेत्र है, उसके अनन्तर पश्चिम समुद्रके समीपमें जो गन्धर्व नामक वन है उसकी
 दिशा है । ऐसे नौ भित्तियोंके मध्यमें आठ क्षेत्र होते हैं । उनके नाम कहते हैं,—यथा १,
 सुबमा २, महावपा ३, वक्रकावती ४, गन्धा ५, गन्धिका ६, सुगन्धा ७, और सन्धिका ८ ।
 इन क्षेत्रोंके मध्यमें स्थित नगरियोंके नाम कहते हैं । अधपुरी १ मिहपुरी २ महापुरी
 ३ विजयपुरी ४ अजयपुरी ५ विजयपुरी ६ अजयपुरी ७ और विजयपुरी ८ ॥

अब ऊर्ध्व हीनोदाया वक्राभ्यां नीलकुण्डपर्वतादक्षिणे भागे याति क्षेत्राणि तिष्ठन्ति
 तेषां विभागभेदं कथयामि । पूर्वभागिता या भूतारण्यवनवेदिका तस्याः पूर्वभागे क्षेत्रं भवति ।
 अनन्तरं बंधारपर्वतगन्धर्वान्तं क्षेत्रं, नदी विभगा नदी, ततः क्षेत्रं, ततो बंधारपर्वतः, ततश्च
 क्षेत्रं, ततश्च विभगा नदी, ततोऽपि क्षेत्रं, ततो बंधारपर्वतगन्धर्वः क्षेत्रं, ततो विभगा नदी, ततः
 क्षेत्रं, ततश्च बंधारपर्वतगन्धर्वः क्षेत्रं, ततो वेदिकाभागे पश्चिमभद्रशास्त्रनदीवेदिका चेति नव-
 भित्तियु मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि भवन्ति । तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—यथा १, सुबमा २, महा-
 वपा ३, वक्रकावती ४, गन्धा ५, सुगन्धा ६, गन्धिका ७, गन्धमालिनी ८ चेति । तन्मध्य-
 स्थितनगरिणां नामानि कथ्यन्ते । विजया १, वैजयन्ती २, जयन्ती ३, अपराजिता ४, च-
 कपुरी ५, सख्यपुरी ६, अयोध्या ७, अवध्या ८ चेति ॥

अब इसके अनन्तर हीनोदाय उत्तर भागमें और नील कुलाचलसे दक्षिणभागमें जो
 क्षेत्र है उसके विभाग भेदका वर्णन करते हैं । पहले कही हुई जो भूतारण्यवनकी वेदिका
 है उसके पूर्वभागमें क्षेत्र है १ और उसके पश्चात् बंधार नामा पर्वत है, उसके अनन्तर पुनः
 क्षेत्र है २ उसके पश्चात् विभगा नदी है, उसके पश्चात् पुनः क्षेत्र है ३ उसके पश्चात् पुनः
 बंधार पर्वत है, उसके अनन्तर पुनः क्षेत्र है ४ उसके पश्चात् पुनः विभगा नदी है, उसके
 अनन्तर पुनः क्षेत्र है ५ उसके पश्चात् पुनः बंधार पर्वत है, उसके पश्चात् पुनः क्षेत्र है ६
 उसके पश्चात् पुनः विभगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है ७ उसके पश्चात् बंधार पर्वत है,
 उसके अनन्तर पुनः क्षेत्र है ८ उसके अनन्तर मेरुकी दिशाके भागमें पश्चिम भद्रशास्त्रनदी
 वेदिका है । इस रीतिमें नौ भित्तियोंके मध्यमें आठ क्षेत्र हैं । अब क्रमसे उनके नाम कहते
 हैं—यथा १ सुबमा २ महावपा ३ वक्रकावती ४ गन्धा ५ सुगन्धा ६ गन्धिका ७ और गन्ध-
 मालिनी ८ ये आठ क्षेत्र हैं । अब उन क्षेत्रोंके मध्यमें वर्तमान नगरियोंके नाम कहते हैं ।
 विजया १ वैजयन्ती २ जयन्ती ३ अपराजिता ४ चकपुरी ५ सख्यपुरी ६
 और अवध्या ८ ये क्रमसे हैं ॥

अथर्वेऽग्निं नक्षत्रममुद्रं । उम नक्षत्रममुद्रके बायु भागमें चार लाख योजन गोल वि-
 चरता था वह धातकीगण्ड द्वीप है । और बायाँ दक्षिण भागमें लवणोदधि और कानोदधि
 उन दोनों समुद्रोंको वेदिवालों पर्याप्त करनेपाया, दक्षिणमें उत्तरकी ओर संवा, एक हजार
 मैल विचरता था वह तथा चारगो योजन ऊँचा इत्याकारनामा पर्वत है । और इसी प्र-
 कार उत्तर भागमें भी एक इत्याकार पर्वत है । इन दोनों पर्वनोंसे संद्वन्द्व हुए ऐसे, पूर्व-
 धातकीगण्ड तथा पश्चिमधातकीगण्ड ऐसे दो गण्ड जानने चाहिये । उनमें जो पूर्वधातकी-
 गण्ड नामा द्वीप है उसके मध्यमें चारगो हजार योजन ऊँचा और एक हजार योजन
 लम्बा छोटा मेरु है । और उसी प्रकार पश्चिमधातकीगण्डमें भी एक छोटा मेरु है ।
 और जैसे जम्बूद्वीपके मध्यमें भूम आदि क्षेत्र, हिमवन् आदि पर्वत, गंगा आदि नदी
 और पर्व आदि जड़ोंका दक्षिण उत्तर रूपमें व्याख्यान किया है; वैसे ही इस पूर्वधातकी-
 गण्डके मेरु और पश्चिमधातकीगण्डके मेरुमें जानना चाहिये । और इसी कारण धातकी-
 गण्डमें जम्बूद्वीपकी अपेक्षा भिन्ननीमें ही भरत आदि दूने होते हैं; परन्तु विस्तार तथा आया-
 मकी अपेक्षामें नहीं । और जो पुनर्वसन है वह तो विस्तारकी अपेक्षा ही द्विगुण है न कि,
 आयाम (संवाह) की अपेक्षामें । उम धातकीगण्डद्वीपमें जैसे चक्रके आरा होते है वैसे
 आकारके धातु कुलाचल है । और जिस प्रकार चक्रके आरोंके छिद्र भीतरसे तो संकीर्ण
 (मकड़े) होते हैं और बाह्य देगमें विस्तीर्ण (बड़े) होते हैं, इसी प्रकार क्षेत्रोंको समझना
 चाहिये ॥

इयंभूतं धातकीगण्डद्वीपमष्टलक्षयोजनबलविक्रमः कालोदकसमुद्रः परिवेष्ट तिष्ठति ।
 सम्राट्द्विर्भागे योजनलक्षगण्डं गत्वा पुनर्वरद्वीपस्य बलयाकारेण चतुर्दिशाभागे मानुषोत्तर-
 नामा पर्वतमिच्छति । तत्र पुनर्वरार्धेऽपि धातकीगण्डद्वीपवदभिणोत्तरेण इत्याकारनामपर्वतद्वयं
 पूर्वापरेण शुक्रकर्मद्वयं च । तथैव भरतादिक्षेत्रविभागश्च बोद्धव्यः । परं किन्तु जम्बूद्वीपभर-
 तादिदमन्यापेक्षया भरतक्षेत्रादिद्विगुणत्वं न च धातकीगण्डापेक्षया । कुलपर्वतानां तु धातकी-
 गण्डकुलपर्वतापेक्षया द्विगुणो विक्रम आयामश्च । वरसेधपमाणं पुनर्दक्षिणभागे विजयार्ध-
 पर्वतं योजनानि पञ्चविंशतिः, हिमवति पर्वतं दानं, महाहिमवति द्विशतं, निपथे चतुःशतं,
 तथोत्तरभागे च । मेरुसमीपगजदन्तेषु द्रवपञ्चकं, नदीसमीपे वक्षोरपु पान्यन्तिपथनील-
 समीपे चतुःशतं च, क्षेत्रपर्वतानां च मेरुं त्यक्त्वा यदेव जम्बूद्वीपे भणितं सदेवार्धवृषीयद्वी-
 पेण च विनियम् । तथा नामानि ॥ क्षेत्रपर्वतनदीदेशनगरादीनां सान्येव । तथैव श्रीशङ्खयो-
 गेया पञ्चशतधनुर्विस्तारा पद्मरागवयमयी वनादीनां वेदिका सर्वत्र समानेति । अप्रापि च-
 षाकारवत्पर्वता आरविबरसंस्थानानि क्षेत्राणि मातृष्यानि । मानुषोत्तरपर्वतादभ्यन्तरभाग
 एव मनुष्यानिष्ठान्ति न च बहिर्भागे । तेषां च जपन्यजीवितमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणम्, उत्कर्षेण
 पत्त्यप्रयं, मध्ये मध्यमविकल्पा बहवन्त्या निरक्षा च । एवमसंख्येयद्वीपसमुद्रविस्तीर्णतिर्यग्गो-
 फमयेऽर्धवृषीयद्वीपप्रमाणं मक्षेपेण मनुष्यलोको व्याख्यानः ॥

है। चन्द्र ही सूर्य है । इनके अनन्तर भग्न और ऐगवतमें स्थित जो जम्बूद्वीपके चन्द्र ही सूर्य है उनका वृत्त योद्धामा विवरण करते हैं । यह इस प्रकार है—जम्बूद्वीपके भीतर चन्द्रो अग्नी और वायु भागमें अर्थात् नक्षत्र समुद्रके संबंधमें तीनसो तीस योजन ऐसे होने लिये। पांचसो दश योजन प्रमाण सूर्यका चारशेघ्र (गमनका क्षेत्र) कहलाता है । जो चन्द्र तथा सूर्य इन दोनोंका एक ही है । इनमें भरतक्षेत्रमें वायु भागमें उस चारशेघ्रमें सूर्यके पृथ्वी कीगामी मार्ग होने है और चन्द्रमाके चन्द्रह ही मार्ग है । उनमें जम्बूद्वीपके भीतर चार शत गंतव्यतिरिक्त दिग्गज जब कि दक्षिण अयनका प्रारंभ होता है तब नियत पर्वतके ऊपर प्रथम मार्गमें सूर्य प्रथम उदय करना है । जहांपर सूर्यके विमानमें वर्तमान जो नि-
र्वाण परमाण्वा धीजिनेन्द्र है उनके अकृत्रिम जिनरिक्को अयोध्या नगरमें स्थित भरत-
क्षेत्रका चक्रवर्ती निर्मल मन्थरस्यके अनुरागसे अवलोकन करके, पुष्पांजलि उछालकर, अर्प-
ण करता है । उस प्रथम मार्गमें स्थित जो भरतक्षेत्रका सूर्य है उसका ऐरावत क्षेत्रके सूर्यके साथ तथा चंद्रमाका चंद्रमाके साथ और भरतक्षेत्रके सूर्य चंद्रमाओंका मेरुके साथ जो अ-
न्तर (पामन्य व दूरी) रहता है यह विशेषतासे आगमोंसे जानना चाहिये ॥

अथ “ मन्थरस भरणी अथा सादी असलेस जेठुमवरवरा । रोहिणिबिसहपुनरुत्तु तिउ-
त्तरा मांशमा वेसा । ११ ” इति गाथाकथितक्रमेण यानि जपन्योत्कृष्टमभ्यनभ्रग्राणि तेषु मन्थे
क्रमेण भ्रमरे कियन्ति दिनान्यादित्यलिप्यतीति । “ इंदु रवीशे रिक्कटा सप्तद्विपंचगयणसं-
ख्या । अद्विद्विद्विरिक्कटा इंदुरविभयणमुहसा । १२ ” इत्यनेन गाथासूत्रेणागमकथितक-
्रमेण पृथक्पृथगानीय मेलापके कृते सति षडधिकपष्टिपुत्रशतसंख्यदिनानि भवन्ति । तस्य
दिनममूर्हापस्य यदा द्वीपाभ्यन्तरादक्षिणेन बहिर्भागेषु दिनकरो गच्छति तदा दक्षिणायन-
संज्ञा, यदा पुनः समुद्रारसकाशादुत्तरेणाभ्यन्तरमार्गेषु समायाति तदोत्तरायणसंज्ञेति । तत्र
यदा द्वीपाभ्यन्तरे प्रथममार्गपरिधौ कर्कटसंक्रान्तिदिने दक्षिणायनप्रारंभे तिष्ठत्यादित्यस्य
चमूर्णवतिसहस्रपञ्चविंशत्यधिकपञ्चयोजनशतप्रमाण उदरपेणादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातप-
विस्तारो ज्ञेयः । तत्र पुनरष्टादशमुहूर्त्तार्धसो भवति द्वादशमुहूर्त्त रात्रिरिति । ततः क्रमेणात-
पक्षानी मत्यां मुहूर्त्तद्वयस्यैकपष्टिमागीकृतस्यैको भागो दिवसमध्ये दिने प्रति द्विपते पाबलव-
णसमुद्रेऽवसानमार्गे माघमासे मकरसंक्रान्तावुत्तरायणदिवसे त्रिपष्टिमहस्याधिकयोऽशयोजन-
प्रमाणो जपन्येनादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातपविस्तारो भवति । तथैव द्वादशमुहूर्त्तार्धसो भ-
पत्यष्टादशमुहूर्त्त रात्रिश्चेति । शेषं विशेषव्याख्यानं लोकविभागादौ विशेषम् ।

अथ “ शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाती, आश्लेषा, ज्येष्ठा ये छः नक्षत्र जपन्य हैं । रो-
हिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, और उत्तरामाद्रपद ये ६ नक्षत्र उत्कृष्ट
हैं । इनके अतिरिक्त दोष जो नक्षत्र है वे मध्यम हैं । ११ । इस गाथामें कहे हुए क्रमके
अनुसार जो जपन्य, उत्कृष्ट तथा मध्यम नक्षत्र हैं, उनमें किस नक्षत्रमें कितने दिन सूर्य
उदरता है सो कहते हैं “ चंद्र १७६८, सूर्य १८३५ और नक्षत्र १८४० गगन संडमें

एक मुहूर्तमें गमन करते हैं सो अधिक भागोंसे नक्षत्रसंज्ञोंके भाग देनेसे जो होते हैं उन प्रमाण एक नक्षत्रपर चंद्र और सूर्यकी स्थिति जानो. इस प्रकार हम पहले कहे हुए क्रमसे भिन्नभिन्न दिनोंको लेकर, उनको जोड़नेसे तीसरो छाछठ ३६९ दिन होते हैं। जब द्वीपके भीतरसे दक्षिण दिशाके बाह्य मार्गमें सूर्य गमन करता है तब तिस्रो छाछठ दिनके आधे जो एकसो तिरासी १८३ दिन हैं उनकी दक्षिणायन होती है, और इसी प्रकार जब सूर्य - समुद्रसे उत्तर दिशाको अभ्यन्तर मार्गमें अर्ध तब शेष जो १८३ दिन हैं उनका उत्तरायण यह नाम होता है। उनमें जब द्वीपके अन्तर भागमें कर्कट संक्रान्तिके दिन दक्षिण अयनके प्रारंभमें सूर्य प्रथम मार्गकी परिधिनिमित्त होता है तब चौरानवे हजार पांचसो पचीस योजन प्रमाण सूर्यके विमानका पूर्व पश्चिम आतप (धूपका) विस्तार (फैलाव) होता है यह जानना चाहिये। और उस समय अर्ध मुहूर्तोंसे दिन और बारह मुहूर्तोंसे रात्रि होती है। फिर यहासे क्रम क्रमसे आतपकी इति होनेपर दो मुहूर्तोंके इकसठ भागोंमेंसे एक भाग प्रतिदिन दिवसमें घटता है। यह तरफ घटता है जबतक कि लवणसमुद्रके अन्नके मार्गमें माघमासमें मकर संक्रान्तिमें उत्तम दिवसके प्रारंभमें जघन्यतासे सूर्यके विमानका आतप विस्तार त्रैसठ हजार सोलह कोट प्रमाण होता है। उस समय उसी प्रकार बारह मुहूर्तोंसे दिन और अठारह मुहूर्तोंसे रात्रि होती है। इसके अतिरिक्त अन्य जो विशेष वर्णन है सो लोकविभाग आदिमें वर्णन चाहिये ॥

ये तु मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्भागे ज्योतिष्कविमानास्तेषां चलनं नास्ति। ते च मानुषोत्तरपर्वतः हिर्भागे पश्चादशसहस्राणि योजनानां गत्वा बलयाकारं पङ्क्तिरूपेण पूर्वक्षेत्रं परिवृष्ट्य तिष्ठन्ति। तत्र प्रथमबलयं चतुश्चत्वारिंशदधिकशतप्रमाणाभ्यन्तस्तादित्याभ्यान्तरान्तरेण तिष्ठन्ति। ततः परं योजनलक्षे लक्षे गते तेनैव क्रमेण बलयं भवति। अयन्तु विशेषः—बलयं बज्रं चन्द्रचतुष्टयं सूर्यचतुष्टयं च वर्धते यावत्पुष्कराध्वहिर्भागे बलयाष्टकमिति। ततः पुष्करात्तु त्रयं बज्रं वेदिकायाः सप्ताशत्पश्चादशसहस्रप्रमितयोजनानि जलमध्ये प्रविश्य वापूर्व पश्चिमदिशद्विकशतप्रमाणं प्रथमबलयं व्याप्यते तस्माद्विगुणसंख्यायां प्रथमबलयं भवति। ततः पुनरुत्तरपर्वतं पूर्वयोजनलक्षे लक्षे गते बलयं भवति चन्द्रचतुष्टयस्य सूर्यचतुष्टयस्य च वृद्धिर्दिश्यते नैव क्रमेण स्वयम्भूरमणसमुद्रबहिर्भागे वेदिकापर्यन्तं ज्योतिष्कदेवानामवस्थानं बोधयति। एते च प्रतरामर्त्येयभागप्रमिता अमर्त्येया ज्योतिष्कविमाना अश्विप्रसुवर्णमयप्रतरा जिनर्चन्यालयमण्डिता ज्ञानध्याः। इति सधेपेण ज्योतिष्कलोकव्याख्यानं समाप्तम् ॥

और जो मनुष्यक्षेत्र (दाईं द्वीप) से बहिर्भागमें ज्योतिष्कविमान हैं उनका चलन (चलना) नहीं है; तथा वे मानुषोत्तर पर्वतके बाह्य भागमें पचाम हजार योजन गमन कर, बलयाकार (गोलाकार) पङ्क्तिरूप क्रमसे पूर्व (पश्चिम) क्षेत्रको वेद (घेर) कर, रहते हैं। उनमें जो प्रथम बलय है उसमें एकसो चत्वारिंश १४४ चन्द्रमा तथा सूर्य अन्तरान्तर (दाईं)

। निम्न जाने है । उसके पश्चात् एक एक साग्न योजन चने जानेपर इसी पूर्वोक्त क्रमा-
गत चर्य होता है । और विशेष यह है कि बन्ध २ (हर एक बलय) में चार चन्द्रमा
का चार गुने बढने है जो ये पुष्परार्थके बाघ भागमें जो आठ बलय हैं बढांतक भडते
। उसके पश्चात् पुष्कर समुद्रके प्रदेशमें जो वेदिका है उससे पचास हजार योजन प्रमाण
निर्माणमें जाकर, जो परते प्रथम बन्धमें एकमो चवानीस चन्द्र तथा सूर्योका कथन किया
। उसके त्रिगुण अर्थात् दोसो अष्टांगी चंद्रमा और सूर्योका धारक प्रथम बलय है । उसके
पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार एक एक साग्न योजन चने जानेपर बलय है और प्रत्येक बलयमें
१२ चन्द्रमा और चार सूर्योकी वृद्धि होती है । सो इसी क्रमसे स्वयंभूरमण समुद्रके अन्तर्की
दिक्क पर्यन्त ज्योतिष्कदेवोका निवास जानना चाहिये । और ये सब प्रतरके असंख्यातवै-
राग प्रमाण अमंख्यात ज्योतिष्कदिमान अष्टत्रिम सुवर्ण तथा रत्नमय जो जिनचैत्यालय हैं
नते भूषित है ऐसा समझना चाहिये । इस प्रकार संक्षेपसे ज्योतिष्क लोकका वर्णन स-
त हुआ ॥

अथानन्तरमूर्ध्वलोकः कथ्यते । तथाहि सौषमैशानसनत्तुमारमाहेन्द्रमक्षमक्षोत्तरलान्तव-
विष्टगुणमहागुणसत्तारसहस्रारानतप्रमाणतारणाध्युतसंज्ञाः षोडश स्वर्गास्ततोऽपि नवमैवेय-
र्गस्तान्त्रम नवानुदिशारेणं नवविमानसंख्यमेकपटलं ततोऽपि पञ्चानुत्तरसंज्ञं पञ्चविमान-
संख्यमेकपटलं चतुष्कर्मणोपपुंषरि वैमानिकदेवास्तिष्ठन्तीति वार्तिकं सप्तदशायुषे समुदा-
वयनमिति यावत् । आदिमध्यान्तेषु द्वादशाष्टपतुर्व्योमनवतुर्विष्कम्भा पत्वारिंशत्प्रमि-
योजनोत्सेधा या मेरुचूलिका तिष्ठति तस्योपरि कुम्भमिजमरयंबाढापान्तरितः पुनर्भुजवि-
निर्गमि । तदादि दृष्ट्वा चूलिकासहितलक्षयोजनप्रमाण मेरुस्तेषमानमर्द्धाधिकैरगुप्रमाणं
द्वादशाक्षेत्रं तत्पर्यन्तं सौषमैशानसंज्ञं स्वर्गयुगलं तिष्ठति । ततः परमर्द्धाधिकैरगुपर्यन्तं
नत्तुमारमाहेन्द्रसंज्ञं स्वर्गयुगलं भवति, तस्मादूर्ध्वरगुप्रमाणाकाशपर्यन्तं मक्षमक्षोत्तराभिधानं
गंयुगलमणि, ततोऽप्यूर्ध्वरगुपर्यन्तं छान्तवकापिष्टनामस्वर्गयुगलमणि, ततश्चादूर्ध्वरगुपर्य-
न्तं शुक्रमदानुत्राभिधानं स्वर्गद्वयं ज्ञातव्यम्, तदनन्तरमूर्ध्वरगुपर्यन्तं शतारसहस्रारसंज्ञं स्वर्ग-
युगलं भवति, ततोऽप्यूर्ध्वरगुपर्यन्तमानतप्राणतनामस्वर्गयुगलं, ततः परमूर्ध्वरगुपर्यन्तमा-
णं यावद्दाराणाध्युताभिधानं स्वर्गद्वयं ज्ञातव्यमिति । तत्र प्रथमयुगलद्वये स्वकीयस्वकीय-
गंतामानाश्चत्वार इन्द्रा विज्ञेयाः, मध्ययुगलचतुष्टये पुनः स्वकीयस्वकीयप्रथमस्वर्गाभिधान ए-
क एवेन्द्रो भवति, उपरितनयुगलद्वयेऽपि स्वकीयस्वकीयस्वर्गेनामानाश्चत्वार इन्द्रा भवन्तीति
मुदायेन षोडशस्वर्गेषु द्वादशेन्द्रा ज्ञातव्याः । षोडशस्वर्गादूर्ध्वमेकरगुमध्ये नवमैवेयकन-
नुदिशपञ्चानुत्तरविमानवासिदेवास्तिष्ठन्ति । ततः परं तत्रैव द्वादशयोजनेषु गतेष्वष्टयो-
नवानुत्तरा मनुष्यलोकवत्पञ्चाधिकचत्वारिंशद्व्ययोजनवितारा भोक्षशिला भवति । तस्योप-
रि धनोदधिपनवाततनुवातत्रयमस्ति । तत्र तनुवातमध्ये लोकान्ते केवलज्ञानापनन्तगुणस-
ताः सिद्धास्तिष्ठन्ति ॥

अथ इसके अनंतर ऊर्ध्वलोकका कथन करते हैं । वह इस प्रकार है—सौषमै, ईशान,

कर्मभोगोक्त्यादि, आन्तर्वापिष्टयोर्द्वयम्, शुक्रमहाशुक्रयोः पटनमेकम्, दातारसद्व्या-
 र्थम्, आन्तर्वापनयोक्त्यम्, आरणाशुनयोर्मयमितानवसु मेवैयकेषु नषकं, नवानुदिशेषु
 नोर्षं, दध्यानुगोत्तु यैवमिति नमुदायेनोपपुंरि त्रिषष्टिपटलानि ज्ञातव्यानि । तथा चोक्तं
 इत्येतावन्वयस्यारिदोर्णितात्वेकवचनदुःस्पे । नितियप्येकिन्दियणामा वडु आदि तेवही ॥

अब स्वर्गके पटलोंकी संख्याका वर्णन करते हैं । सौधर्म और ईशान इन दो स्वर्गोंमें
 ११ पटल है, सनत्कुमार तथा मादेन्द्रमें सात ७ पटल है, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तरमें
 २ पटल है, सान्तव तथा कापिष्ठमें दो पटल है, शुक्र और महाशुक्रमें एक पटल
 है, क्षतार और शतक्षरमें एक पटल है, आनन तथा प्राणनमें तीन पटल है और आरण
 का अष्टपुत्र इन दो स्वर्गोंमें भी तीन पटल हैं । नव भ्रूवेयकोमें नव ९ पटल हैं, नव
 अनुदिशोंमें एक पटल है, और पंचानुशरोमें एक पटल है। ऐसे समुदायसे ऊपर ऊपर तिर-
 ट ६३ पटल जानने चाहिये । सोही कहा है—“सौधर्म युग्ममें ११, सनत्कुमार युगलमें
 ७, ब्रह्मयुगलमें ४, सान्तव युगलमें २, शुक्र युगलमें १, क्षतार युगलमें १, आनन आदि
 २ स्वर्गोंमें ६, प्रत्येक तीनों भ्रूवेयकोमें तीन २, नव अनुदिशोंमें एक, पंचानुशरोमें एक,
 १ समुदायसे ६३ इन्द्र होते हैं,—

अतः परं प्रथमपटलद्वयाभ्यामनं क्रियते । अत्र विमानं यदुक्तं पूर्वं मेदचूलिकाया उपरि यन्मुप्यधोत्रप्रमाणवित्सारम्येन्द्रकसंज्ञा । तस्य चतुर्दिग्भागेष्वसंख्येययोजनवित्सारानि पञ्च-
 णेन सर्वद्वीपसमुद्रेषूपरि प्रतिदिगं यानि त्रिपष्टिविमानानि तिष्ठन्ति तेषां भेणीचतुष्टयसंज्ञा ।
 नि य यद्दिग्दिगुपप्रकारश्चिद्विद्वच्चतुष्टये तिष्ठन्ति तेषां संख्येयासंख्येययोजनवित्सारानां
 निर्णयसंज्ञेति समुदायेन प्रथमपटलद्वयं ज्ञातव्यम् । तत्र पूर्वापरदक्षिणभेजिन्नयविमा-
 नि । तन्मध्ये विदिग्द्वयविमानानि च सौधर्मसंबन्धीनि भवन्ति, शेषविदिग्द्वयविमानानि च
 िशामसंबन्धीनि । अस्मात्पटलद्वयद्वयं जिनदष्टमानेन संख्येयाम्यसंख्येयानि योजनानि
 । तेनैव क्रमेण द्वितीयादिपटलानि भवन्ति । अयं च विशेषः—भेणीचतुष्टये पटले पटले
 दिशर्मैकविमानं द्वीपये चाकृत्पञ्चानुत्तरपटले चतुर्दिश्वैकविमानं तिष्ठति । एते
 यर्मादिविमानाश्चतुरशीतिहस्तप्रमाणवित्सहस्रत्रयोविंशतिप्रमिता अष्टविमसुवर्णमयजिन-
 मण्डिता ज्ञातव्या इति ।

इसके आगे प्रथम षटलङ्का व्याख्यान किया जाता है। जो पहले मेरुकी चूलिकाके रक्तजु विमान बद्धा गया है उस मनुष्यक्षेत्र (दार्ढ्रीप) प्रमाण विस्तारके धारक ऋजु तनकी इंद्रक यह संज्ञा है। उसकी चारों दिशाओंके भागमें जो प्रत्येक दिशामें सब समुद्रोंके ऊपर असंख्यात योजन विस्तारके धारक पंक्तिरूपसे तिरसठ ६३ विमान मन्त्री क्षेणीवद्ध संज्ञा है। और जो विमान पंक्तिसे बिना पुष्पोंके मकरके समान विदिशाओंमें हैं उन संख्यात, असंख्यात योजन प्रमाण विस्तारवाले विमानोंकी प्रकीर्ण संज्ञा है। ऐसे समुदायसे प्रथम षटलङ्का लक्षण जानना चाहिये विमानोंमें

जो पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन श्रेणियोंके विमान हैं वे, और इन तीनों बीचमें जो दो विदिशाओंमें स्थित विमान हैं ये सब प्रथम सौधर्म स्वर्ग संबंधी हैं। शेष दो विदिशाओंके विमान और उत्तर श्रेणीके विमान जो हैं वे ईशान स्वर्ग संबंधी हैं। इस पटलके ऊपर भगवान् करके देखे हुए प्रमाणके अनुसार संख्यात तथा अंशज जन जाकर इसी पूर्वोक्त क्रमसे द्वितीय, तृतीय, आदि पटल होते हैं। और विशेष कि पटल पटलमें प्रत्येक दिशाकी प्रत्येक श्रेणीमें एक २ विमान घटता है सो स्पष्ट घटता है कि पंचानुत्तर पटलमें चारों दिशाओंमें एक एक ही विमान रह जाता है। ये सब सौधर्म स्वर्ग आदि संबंधी विमान चौरासी लाख सत्तानवे हजार तीस ८१९३३३ संख्या प्रमाण हैं। और अकृत्रिम सुवर्णमय जिनचैत्यालयोंसे मंडित हैं ऐसे जानने वर्य।

अथ देवानामायुःप्रमाणं कथ्यते । भवनवासिषु जपन्त्येन दशवर्गसहस्राणि, एते पुनरगुरुकुमारेषु सागरोपमम्, नागकुमारेषु पद्मप्रयं, सुपर्णं सार्धद्वयं; द्वीपकुमारो द्वौ, ते कुलपदके सार्धपत्न्यमिति । व्यन्तरे जपन्त्येन दशवर्गसहस्राणि, उत्कर्षेण पद्ममरिचिनी त्रयोविंशद्वे जपन्त्येन पत्न्याष्टमविमागः, उत्कर्षेण चन्द्रे लक्षत्रयोधिकं पत्न्यं, सूर्ये सप्त विंशं पत्न्यं, शेषत्रयोविंशदेवानामागमानुसारेणेति । अथ सौधर्मज्ञानयोगे जपन्त्येन पत्न्यं, उत्कर्षेण साधिकसागरोपमद्वयं, सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः साधिकसागरोपममर्षं, मन्मोत्तरयोः साधिकसागरोपमदशकं, छान्तवक्त्रापिष्ठयोः साधिकानि चतुर्दशमागोत्तरं एकमहागुह्ययोः षोडश साधिकानि, शतारसहस्रारयोरष्टादश साधिकानि, मानसज्योतिर्गतिरथ, भारणाध्युनयोर्द्वाविंशतिरिति । अतः परमद्युसादूर्ध्वं कल्पानीतवर्षाणां द्वाविंशतिमागरोपमममागादूर्ध्वमेकैकसागरोपमे वर्धमाने सत्यैकत्रिंशत्मागरोपमान्वाच्यते त्रैलोक्ये भवति । भवानुदिशपटले द्वाविंशत्, पंचानुत्तरपटले त्रयविंशत्, इत्युक्तं प्रमाणं ज्ञानव्यम् । तदायुः सौधर्मोऽपि स्वर्गेषु बहुलकृष्टं तत्परमिन् परमिन् सौधर्मोऽपि विद्याय जपन्त्यं चेति । शेषं विशेषव्याख्यायानं त्रिंशोक्तसारायौ बोद्धव्यम् ॥

अथ देवैर्देव आगुह्य प्रमाणं कहते हैं । भवनवासियोंमें न्यूनसे न्यून दश हजार वर्ष जपन्त्य आयु होता है और उत्कर्षेण अगुरकुमारोंमें एक सागर, नागकुमारोंमें तीन सागर, द्वीपकुमारोंमें दो पत्न्य और बाकी जो ९ प्रकारके मानवादी उनमें देव पत्न्य प्रमाण आयु है । व्यन्तर्गोंमें दश हजार वर्षका जपन्त्य और कुल पटल एक पत्न्यका उन्वृष्ट आयु है । त्रयोविंश देवोंमें जपन्त्य आयु पत्न्यके जाउने का पत्न्य है, उन्वृष्टन्यमे चंद्रमामें एक पत्न्य एक रुद्रन्य वर्ण और सूर्यमें एक पत्न्य एक इन्द्रा संबंधी आयु है । शेष त्रयोविंश देवोंका उन्वृष्ट आयु आगमके अनुसार जनना वर्धित कल्पवर्षोंमें जो स्थिति तथा ईशान स्वर्गके देव हैं उनके जपन्त्यनामे कुछ और एक पत्न्य और उन्वृष्टन्यमे कुछ अधिक दो सागर प्रमाण आयु है । महाकुमार तथा रुद्र देवोंमें कुछ अधिक मान सागर प्रमाण उन्वृष्ट आयु है । इस और प्रमाणों का

धिक दश सागर, अंतव कापिटमें कुछ अधिक चौदह सागर, शुक महाशुकमें कुछ अधिक सोलह सागर, दातार और सहस्रारमें किंचित् अधिक अठारह सागर, आनत तथा जितमें पूरे बीसही सागर, और आरण अच्युतमें बाईस २२ सागर प्रमाण आयु है ।
 व इसके अनंतर अच्युत स्वर्गके ऊपर कल्पातीत जो नव प्रवेयक हैं उनमें प्रत्येक प्रवे-
 कमें बाईस सागर प्रमाण आयुमें क्रमानुसार एक एक सागर बग्गये जानेपर अंतके
 व प्रवेयकमें इकतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु होता है । नौ ९ अनुदिशोंके पटलमें
 तीस सागर और पंचानुर पटलमें तेतीस सागर जितना उत्कृष्ट आयुका प्रमाण जानना
 चाहिये । और जो आयु सौधर्म आदि स्वर्गोंमें उत्कृष्ट है वह सर्वार्थसिद्धिके विना अन्य
 व स्वर्गोंमें आगे आगे जपन्य है अर्थात् जो सौधर्म ईशान स्वर्गमें उत्कृष्ट कुछ अधिक
 सागर प्रमाण आयु है वह सनत्कुमार माहेन्द्रमें जपन्य है । इस क्रमसे सर्वार्थसिद्धिके
 इले २ जपन्य आयु जानना । इसके अतिरिक्त जो अधिक व्याख्यान है सो त्रिलोकमार
 आदिमेंसे समझना चाहिये ॥

किञ्च आदिमध्यान्तमुक्ते शुद्धबुद्धैकस्वभावे परमात्मनि सकलविमलकेवलज्ञानलोपने-
 तदर्थं विम्वानीव शुद्धात्मादिपदार्था लोच्यन्ते दृश्यन्ते ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्ते पतन्तेन
 अरणेन च एव निश्चयलोकस्तरिमिनिश्चयलोकाख्ये स्वकीयशुद्धपरमात्मनि अवलोकनं वा स
 निश्चयलोकः । "सन्नामो य तिलेरसा इदियवसदाय अट्टकदाणि । नाणं च दुप्प वसं मोहो पाव-
 दो होदि । १ ।" इति गाथोदितविभावपरिणाममादिं कृत्वा समस्तशुभाशुभसंक्रयविकल्प-
 योगेन निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नपरमाद्वादैकमुराष्टतरसास्वादानुभवनेन च या भावना सैव
 निश्चयलोकानुपेक्षा । शेषा पुनर्व्यवहारेणेत्येवं संक्षेपेण लोकानुपेक्षाव्याख्यानं समाप्तम् ॥

और आदि मध्य तथा अन्तसे रहित, शुद्ध बुद्ध एक स्वभावका धारक जो परमात्मा है
 उसमें सकल (पूर्ण) रूपसे विमल (स्वच्छ) जो केवल ज्ञान नामक नेत्र है उसके द्वाग
 जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बोंका मान होता है उसी प्रकार शुद्ध आत्मा आदि पदार्थ आन्तके
 जाते हैं अर्थात् देखे जाते हैं, जाने जाते हैं, परिच्छिन्न किये जाते हैं इस कारण वह निज
 शुद्ध आत्मा ही निश्चय लोक है अथवा उस निश्चय लोक नामके धारक निज शुद्ध पर-
 मात्मामें जो अवलोकन (देखना) है वह निश्चय लोक है । "तंज्ञा, तीन लेख्या, ईदिसोकि
 वसीभूतपना, आर्य, रीद्र, ध्यान तथा दुप्पयुक्त ज्ञान और मोह ये सब पापको देवबाने
 होते हैं ।" इस गाथामें बड़े दुष्ट विभाव परिणामको आदि लेके, संपूर्ण जो शुभ तथा अनुभ
 रूप संक्रय विकल्प हैं उनके त्यागसे और निजशुद्ध आत्माकी भावनामें उत्पन्न जो परम
 आद्वादरूप एक सुस्वरूपी अमृतके आस्वादका अनुभव है उससे जो भावना होती है वही
 निश्चयसे लोकानुपेक्षा है । और इसके अतिरिक्त शेष जो पूर्वोक्त भावना है वह व्यवहारमें
 है । इस प्रकार संक्षेपसे लोकानुपेक्षाका वर्णन समाप्त हुआ ॥

अथ दुर्लभानुपेक्षां कथयति । तथाहि एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञापयोत्तममुत्प-

योगियोंके राग आदिकी शून्यतापूर्वक जो ससंवेद्य (निजके अनुभवसे जानने योग्य) आत्माका सुख है वह विशेष करके अतीन्द्रिय है । और भावकर्म तथा द्रव्यकर्मोंसे रहित, तथा संपूर्ण आत्माके प्रदेशोंमें आल्हादका जनक ऐसा जो पारमार्थिक परम सुख है उसमें परिणत ऐसे मुक्त जीवोंके जो अतीन्द्रिय सुख है वह अत्यन्त विशेषतासे अतीन्द्रिय जानना चाहिये । अब यहांपर शिष्य कहता है कि हे गुरो, संसारी जीवोंके निरन्तर कर्मोंका बंध होता है और इसी प्रकार कर्मोंका उदय भी सदा होता रहता है इस कारण शुद्ध आत्माके ध्यानका प्रस्ताव (प्रसंग) ही नहीं है फिर उनका मोक्ष कैसे होता है ? अब इस शिष्यके प्रश्नका उत्तर देते हैं कि जैसे कोई बुद्धिमान् अपने शत्रुकी क्षीण अवस्थाको देखकर, अपने मनमें विचार करता है कि यह मेरे मारनेका प्रस्ताव है अर्थात् शत्रु दुर्बल है इसलिये यह अवसर शत्रुको मारनेका है, और इस विचारके पश्चात् उद्यम करके, वह बुद्धिमान् अपने शत्रुको मारता है; इसी प्रकार कर्मोंकी भी सदा एकरूप अवस्था नहीं रहती इस कारण स्थितिबंध और अनुभागबंधकी न्यूनता होनेसे जब कर्म लघु अर्थात् क्षीण होते हैं तब बुद्धिमान् भव्य जीव भाषासे “क्षयोपशम लब्धि, विगुद्विलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि ये पांच लब्धियें हैं, इनमें चार तो सामान्य हैं और पांचवीं सम्यक्त्वचारित्र्यमें होती है” इस गाथासे कही हुई पांच लब्धियों नामक तथा अध्यात्म भाषासे निज शुद्ध आत्माके सन्मुख परिणाम नामक जो निर्मल भावना विशेषरूप राग है उससे पौरुष करके कर्मशत्रुको नष्ट करता है । और जो अन्तः कोटाकोटि प्रमाण कर्मस्थितिरूप तथा इसी प्रकार लताकाष्ठके स्थानापन्न अनुभाग रूपसे कर्मोंका लघुत्व (क्षीणत्व) होनेपर भी यह जीव आगमभाषासे अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनित्य-लिकरण नामक तथा अध्यात्मभाषासे निज शुद्ध आत्माके सन्मुख परिणामरूप जो कर्मोंको नष्ट करनेकी बुद्धि है उसको करके किसी समयमें कर्मोंका नाश नहीं करेगा यह जो कथन है सो अमय्यत्व गुणका ही लक्षण जानना चाहिये । और अन्य भी तो दृष्टान्त मोक्षके विषयमें जानने योग्य हैं ।

अब यहां कोई शंका करता है कि अनादि कालसे मोक्षको जाने हुए जीवोंमें जगत्की शून्यता हो जायगी अर्थात् अनादिकालसे जो मोक्षको जीव जा रहे हैं तो न्यून होने २ कभी न कभी जगत्में जीव सर्वथा न रहेंगे, एता शंकाका परिहार करते हैं कि जैसे क्रमसे जाते हुए जो भविष्यत् कालके समय हैं उनसे यद्यपि भविष्यत्कालके समयोंकी राशिमें न्यूनता होती है तथापि उस समयराशिका अंत कदापि नहीं इसी प्रकार मुक्तिमें जाने हुए जीवोंसे यद्यपि जगत्में जीवराशिकी न्यूनता होती है तथापि उस जीवराशिका अंत नहीं है । यदि ऐसा कहो तो यह शंका भी होती है कि पूर्व कालमें बहुत जीव मोक्षको गये हैं तब इस समय जगत्की शून्यता क्यों नहीं देख पड़ती तो इसपर यह भी उत्तर है

किं अमव्य जीव तथा अमव्यके समान मव्य जीवोंका मोत्र नहीं है । फिर १० शून्यता कैसे होगी ॥ ३० ॥

इस प्रकार संक्षेपसे मोक्षतत्त्वके व्याख्यानरूप एक सूत्रमे पंचम स्थल समाप्त हुआ ।

अत ऊर्ध्व पष्ठस्थले गाथापूर्वार्धेन पुण्यपापपदार्थद्वयस्वरूपमुत्तरार्धेन च पुण्यपापसंख्यां कथयामीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति ।

अब इसके आगे पष्ठ (छठे) स्थलमें गाथाके पूर्वार्धसे पुण्य तथा पापरूप के पदार्थ हैं उनके स्वरूपको और उत्तरार्धसे पुण्य प्रकृति तथा पाप प्रकृतियोंकी संख्याको बताता हूं इस अभिप्रायको मनमें धारण कर, भगवान् इस सूत्रका प्रतिपादन करते हैं ।

गाथा । सुहस्रसुहभायजुप्ता पुण्यं पावं हवन्ति खलु जीवा ।

सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्यं पराणि पावं च ॥ ३८ ॥

गाथाभावार्थः—शुभ तथा अशुभ परिणामोंसे युक्त जीव पुण्य और पापरूप होते हैं साक्षात्वेदनी, शुभ आयु, शुभ नाम तथा उच्च गोत्र नामक कर्मोंकी जो प्रकृतियाँ हैं वे पुण्य प्रकृतियाँ हैं और शेष सब पापप्रकृतियाँ हैं ॥ ३८ ॥

व्याख्या । “पुण्यं पावं हवन्ति खलु जीवा” चिदानन्दैकसहजशुद्धस्वभावत्वेन पुण्यपञ्चमोक्षादिपर्यायरूपविकल्परहिता अपि सन्तानागतानादिकर्मवन्धपर्यायेण पुण्यं पावं भवन्ति खलु स्फुटं जीवाः । कथंभूताः सन्तः “सुहस्रसुहभायजुप्ता” “उद्वम मिष्यात्सर्वं भावय दृष्टिं च कुरु परां भक्तिम् । भावनमस्कारतो ज्ञाने युक्तो भव सदापि । १ । पञ्च महाव्रतारक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम् । दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपःसिद्धिविशौ दुरुपोत्तम ॥ २ ॥” इत्याद्याद्वयकथितलक्षणैर्न शुभोपयोगभावेन परिणामेन तद्विलक्षणेनाशुभोपयोगपरिणामेन च युक्ताः परिणताः । इदानीं पुण्यपापभेदान् कथयति “सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्यं” सदेवशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं भवति “पराणि पावं च” तस्मादपराणि कर्माणि पावं चेति । तद्यथा—सदेवमेकं, तिर्यग्मनुष्यदेवायुस्त्रयं, शुभमयशःकीर्त्तितोषकरत्नादिनाम्नस्य तीनां सप्तत्रिंशत्, तथोच्चगोत्रमिति समुदायेन द्विचत्वारिंशत्संख्याः पुण्यप्रकृतयो विशेषाः । दोषा द्वयशीतिपापमिति । तत्र “दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीष्टशान्तोपयोगसंवर्गौ शक्तिवस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुभुवप्रवचनकिरावश्यकापरिहृतिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य” इत्युक्तलक्षणयोऽन्य भावोत्पन्नतीर्थकरनामकर्मैवं विशिष्टं पुण्यम् । षोडशभावनासु मध्ये परमागमभाषया “दुःखप्रयं मदाध्याशौ तथानायतनानि यद् । अष्टौ शङ्कादयश्चेति हृद्दोषाः पञ्चविंशतिः । १ ।” इति श्लोककथितपञ्चविंशतिमलरहिता तथाप्यात्मभाषया निजशुद्धात्मोपादेयकचिरुपा सग कत्वभावनैव मुख्येति विशेषम् । सम्यग्दृष्टेर्जावस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम् । कथं पुण्यं करोतीति ? तत्र युक्तिमाह । यथा कोऽपि देशान्तरस्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदयं पुरुषान्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिरप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति चारित्र्ये होदयात्तन्नाममर्थं खन निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूनां

इति धीनेमिषन्तुर्बोद्धान्तिवदेविरचिते द्रष्टव्यसहस्रमन्थे “भासवर्धन”
इत्यादिषु सूत्राणां सदनन्तरं भाषादसकेन स्थलपदकं चेति समु-
दायेनैवावसायः सन्तत्परचनवपदार्थप्रतिपादकतामा
द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥ २ ॥

प्याग्यार्थः—“पुण्यं पावं हवंति स्वलु जीवा” विद्वान्द्वन्द्वसहज शुद्ध भावसे
पुण्य, पाप, बन्ध, तथा मोक्ष आदि पर्याय स्वरूप विकल्पोक्ते रहित भी जीव हैं तथापि
संज्ञान (प्रसाद) मे प्राप्त जो अनादि कर्मबन्ध पर्याय है उससे पुण्य तथा पाप भी होते हैं
अर्थात् पुण्य पापको प्राप्त होते हैं । कैसे होते हुए जीव पुण्य पापको धारण करते हैं;
इसलिये यह विशेषण कहते हैं । “सुहृद्भुक्तभुक्तनुत्ता” “मिथ्यास्वरूपी विपका वमन कर
दो, सम्यग्दर्शनकी भावना करो, उत्कृष्ट भक्तिको करो, और भाव नमस्कारमें तत्पर होके
सदा ज्ञानमें लगे रहो । १ । पांच महामतोकी रक्षा करो, क्रोध आदि चार कषायोंका पूर्ण
रूपसे निग्रह करो, दुर्दान्त (प्रबल) इन्द्रियरूप शत्रुओंका विजय करो तथा पाप और
आम्यन्तर भेदसे दो प्रकारका जो तप है उसको सिद्ध करनेमें उद्योग करो ।” इस प्रकार
दोनों आर्याध्न्दोक्ते कहे हुए लक्षणसहित शुभ उपयोगरूप भाव परिणामसे तथा उसके
विपरीत अशुभ उपयोग रूप परिणामसे शुक्त (परिणत) जो जीव हैं वे पुण्य पापको धारण
करते हैं अथवा स्वयं पुण्य पापरूप हो जाते हैं । अब पुण्य तथा पापके भेदोंको कहते हैं ।
“सादं सुहाव धामं गोर्दं पुण्यं” सादा वेदनी, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र
ये कर्म तो पुण्यरूप हैं और इनसे भिन्न जो दोष कर्म हैं वे पापकर्म हैं । तो इस प्रकार है—
सादा वेदनी एक प्रकृति; तिर्यच, मनुष्य और देव इन भेदोंसे शुभ आयुकी प्रकृतियें तीन
१; सुमग, यश कीर्ति तथा तीर्थस्नान आदि रूप नामकर्मकी प्रकृतियें सैंतीस २७ और
उच्च गोत्र एक १; ऐसे सब मिलके समुदायसे ब्यालीस ४२ संख्याकी धारक पुण्य प्रकृ-

तियें जाननी चाहिये । बाकीकी जो बयासी ८२ प्रकृति आठों कमोंकी हैं वे सब प्रकृति हैं ॥

उनमें "दर्शनविशुद्धि १ विनयसंपन्नता २ शील तथा व्रतोंमें अतिचाररहितता ३ अन्तर ज्ञानमें उपयोग ४ संवेग ५ शक्तिपूर्वक त्याग ६ शक्तिपूर्वक तप ७ सन्तुष्टि ८ वैवाचित्त्यका करना ९ अर्हतमें भक्ति १० आचार्यभक्ति ११ बहुश्रुतार्थ १२ प्रवचनभक्ति १३ आवश्यकोंमें हानि न करना अर्थात् पद आवश्यकोंको निरन्तर करना १४ मार्गप्रभायना १५ और प्रवचनवात्सल्य १६ ये तीर्थंकर प्रकृतिके संस्करण हैं" इस कहे हुए लक्षणकी धारक जो सोलह भावना हैं उनसे उत्पन्न जो तीन नामकर्म हैं सो विशिष्ट पुण्य है । उक्त सोलह भावनाओंमें परमागम भाषासे "तीव्र आठ मद, छः (६) अनायतन और आठ शंका आदि दोष ऐसे पचीस २५ कर्मों के दोष हैं । १ ।" इस प्रकार श्लोकमें कहे हुए पचीस सम्पद्दर्शनके मूल (दोष) अनिचारों से रहित ऐसी तथा अध्यात्मभाषासे निजशुद्ध आत्मा ही उपादेय (प्रवचन) करने योग्य है, इस प्रकारकी जो रुचि (प्रीति) है उसरूप जो सम्पत्त्वकी भावना मोही मुख्य है वह जानना चाहिये । शंका-सम्पद्दृष्टी जीवके तो पुण्य तथा पाप के ही देय (त्याग्य) हैं फिर वह पुण्य कैसे करता है? अब इस शंकाके समाधानमें कुछ कथन करते हैं । जैसे कोई मनुष्य अन्य देशमें विद्यमान ऐसी मनोहर (रूप शालीन) दिखी धारक) ग्रीके पामने आये हुए मनुष्योंका उम स्त्रीकी प्राप्तिके अर्थ दान, मन्त्र आदि करता है; ऐसे ही सम्पद्दृष्टी जीव भी निजशुद्ध आत्माको ही भाषना है । परंतु धर्मप्रमोदके उदयमें उम निज शुद्ध आत्माकी भाषनामें असमर्थ होता है; तब दोषपूर्ण परमाना स्वरूप जो अर्हत् मिद है तथा उनके आराधक जो आचार्य, उपाध्याय आदि हैं उनकी परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके निमित्त और विषय तथा कथाओंको पूजा करने लिये दान पूजा आदिमें अथवा गुणोंकी स्तुति आदिसे परम भक्तिको करता है । और भोगोंकी बांछा आदि निदानोंमें रहित जो परिणाम है उममें कृदुषियोंके वस्तुत्व निमित्तकर्मनेके विशिष्ट पुण्यका आयव करना है, अर्थात् जैसे दिवान्तर कर्मोंकी मोही करता है; तब उमका मुख्य उद्देश चावज उत्पन्न करनेका रहता है और वह मोहा दोषकाद (पाप) है उममें उमकी बांछा नहीं रहती है, तथापि उमको बहुतसा दान निज ही उमका है, इसी प्रकार मोहाको चाहनेवाले जीवोंके बांछा रिना भी मर्ति करने पुण्यका उत्पन्न होता है । और उम पुण्यमें अगमें इन्द्र, लोकान्तिक देव आदिही हैं । निजो दान दोग्ध अर्हत्त्वों की जो रिमान तथा देव देवियोंका परिणाम है उमको ही पुण्यका उत्पन्न निजका पुण्य पंच मर्त्यजिंदगीमें उनके देवना है । क्या देवना है? ऐसा कहते हैं उमका यह है कि, यह वह समवयस्य है, वे वे श्रीश्रीनगम मर्त्य मय (१)

भेद तथा अभेदरूप रत्नत्रयकी आराधना करनेवाले गणधर देव आदि हैं, जो कि पहले ज्ञे होते थे, वे आज प्रत्यक्षमें देखे ऐसा मानकर अधिकतासे धर्ममें दृढ़ बुद्धिको करके पुण्य गुणज्ञानके योग्य जो अपनी अविरत अवस्था है उसको नहीं छोड़ता हुआ भोगोंका भोग होनेपर भी धर्मध्यानसे देव आयुके फलको पूर्णकर स्वर्गसे आकर तीर्थकर आदि पदको प्राप्त होता है और तीर्थकर आदि पदको प्राप्त होनेपर भी पूर्वजन्ममें भावित की है जो विशिष्ट-भेदज्ञानकी वासना है उसके बलसे मोहको नहीं करता है और मोह-रहित होनेसे श्रीजिनेन्द्रकी दीक्षाको धारण कर पुण्य तथा पापसे रहित जो निजपरमात्माका ज्ञान है उसके द्वारा मोक्षको जाता है । और जो मिथ्यादृष्टि है वह तो तीव्र निदानबंधके योग्यसे चक्रवर्त्ती, नारायण तथा रावण आदि प्रतिनारायणोंके समान भोगोंको प्राप्त होकर भ्रष्ट हो जाता है । इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणके धारक जो पुण्य और पापरूप दो पदार्थ हैं इन सहित पूर्वोक्त जो सात तत्त्व हैं वेही नव ९ पदार्थ हो जाते हैं । अर्थात् जीव मजी-आदि सात तत्त्वोंमें पुण्य और पापके मिलानसे नौ पदार्थ हो जाते हैं । ऐसा समझना चाहिये ॥ ३८ ॥

इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवविरचितद्रव्यसङ्ग्रहस्य श्रीमत्तदेवनिर्मितसंस्कृतटीकायाः

शान्तीसुपाधिधारक-श्रीत्रिवाहुरलालदि० जैनप्रणीतभाषानुवादे “आम्रवध-

पण” इत्याद्येकादशसूत्रैः सप्ततत्त्वचनवपदार्थप्रतिपादकनामा

द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः । २ ।

अत ऊर्ध्वं विज्ञप्तिगाथापर्यन्तं मोक्षमार्गं कथयति । तत्रादौ “सम्प्रवृत्तण” इत्यादिगाथा-निर्निश्चयमोक्षमार्गव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादकमुत्पत्त्येन प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः । “दु-र्विदं वि मुचलदेव” इति प्रभृतिद्वादशसूत्रैर्ध्यान-ध्याता-ध्येय-तथा ध्यानके फलको कथनमुत्पत्त्येन द्वितीयोऽन्तराधिकारः । तृतीयाधिकारं समुदायेन पातयति ।

अथ प्रथमतः सूत्रपूर्वार्धेन व्यवहारमोक्षमार्गमुत्तरार्धेन च निश्चयमोक्षमार्गं निरूपयति । अथ इसके पश्चात् शीघ्र २० गाथा पर्यन्त मोक्षमार्गका कथन करते हैं । उक्तरी आ-दिमें “सम्प्रवृत्तणार्ण” इत्यादि आठ गाथाओंके द्वारा प्रधानतासे निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्गका प्रतिपादक प्रथम अन्तराधिकार है । उसके अनंतर “दुर्विदं वि मुचल देव” इत्यादि बारह गाथाओंसे ध्यान, ध्याता, ध्येय तथा ध्यानके फलको कथना है उत्पत्त्य प्रयोजन जिसका ऐसा द्वितीय अन्तराधिकार है । इस प्रकार इस तृतीय अधिकारमें समुदायसे पातयिका है ।

अथ प्रथमही सूत्रके पूर्वार्धसे व्यवहार मोक्षमार्गकी और उत्तरार्धसे निश्चय मोक्षमार्गकी कथने हैं ।

गाथाभाषार्थः—आत्माको छोड़कर अन्य द्रव्यमें रत्नत्रय नहीं रहता इस कारण उस प्रथमयी जो आत्मा है वही निश्चयसे मोक्षका कारण है ॥ ४० ॥

व्याख्या । “रयणत्तयं न वट्टइ अप्पाण मुइत्तु अण्ण दविभत्ति” रत्नत्रयं न वर्त्तते स्वकी-
शुद्धात्मानं मुक्ता अन्याचेतने द्रव्ये । “तस्मा सत्तियमइव होदि हु मुक्खस्स कारणं
आदा” तस्मात्तत्रितयमय आत्मैव निश्चयेन मोक्षस्य कारणं भवतीति जानीहि । अथ वि-
स्तारः—रागादिविकल्पोपाधिरहितविषयमत्कारभावनोत्पन्नमधुररसास्वादसुखोऽहमिति निश्च-
रूपं सम्यग्दर्शनं तस्यैव सुखस्य समस्तविभावेभ्यः स्वसंवेदनज्ञानेन पृथक् परिच्छेदनं
स्मरणज्ञानं, तथैव दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाहुप्रभृतिसमस्तापध्यानरूपमनोरथजनितसंकल्पवि-
कल्पाश्लक्ष्माग्नेन तथैव सुखे रत्नस्य सन्तुष्टस्य लक्षणैकाकारपरमसमरसीभावेन द्रवीभूतचि-
त्स्य पुनः पुनः स्थिरीकरणं सम्यक्चारित्रम् । इत्युक्तलक्षणं निश्चयरत्नत्रयं शुद्धात्मानं विहा-
न्यत्र पटपटादिषद्भिर्द्रव्ये न वर्त्तते यत्तत्ततः कारणादभेदेन येनानेकद्रव्यात्मकैकप्रधानकव-
देव सम्यग्दर्शनं, तदेव सम्यग्ज्ञानं, तदेव चारित्र्यं, तदेव स्वात्मतत्त्वमित्युक्तलक्षणं निजशु-
द्धान्मेव मुक्तिकारणं जानीहि ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थः—“रयणत्तयं न वट्टइ अप्पाण मुइत्तु अण्ण दविभत्ति” निजशुद्ध
आत्माको छोड़कर अन्य अचेतन द्रव्यमें रत्नत्रय नहीं रहता है । “तस्मा सत्तियमइव
दि हु मुक्खस्स कारणं आदा” इस कारण इस रत्नत्रयमय आत्माको ही निश्चयसे
मोक्षका कारण जानो । अब विस्तारसे वर्णन करते हैं—राग आदि विकल्पोंकी उपाधिते
वत जो चित् चमत्कारकी भावनासे उत्पन्न मधुर रस (अमृत) है उसके आस्वाद रूप
का धारक मैं हूँ इस प्रकार निश्चयरूप सम्यग्दर्शन है । और इस पूर्वोक्त सुखका जो
आदि समस्त विभाव है उनसे स्वसंवेदन ज्ञानद्वारा भिन्न करना अथवा जानना है सो
संज्ञान है । और इसी प्रकार देखे, सुने, तथा अनुभव किये हुए जो भोग उनमें बाँटा
ना आदि जो समस्त दुर्ध्वानरूप मनोरथ हैं उनसे उत्पन्न हुए संकल्प विकल्पोंके त्यागने
से सुखमें सन्तुष्ट तथा एक आकारका धारक जो परम समता भाव उससे षडायमान
एका धारदार सिर करना सम्यक् चारित्र्य है । इस प्रकार कहे हुए लक्षणका धारक
रत्नत्रय है वह शुद्ध आत्माको छोड़कर अन्य जो पट, पटादि पाच द्रव्य है उनमें
नहीं रहता है इस कारण अभेदसे अनेक द्रव्योंमय एक प्रधानक अर्थात् वदाम, सौक,
मी, मिरच आदि द्रव्योरूप ठंडाईके समान यह आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, यह
आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, यह आत्माही चारित्र्य है तथा वही निज आत्मतत्त्व है । इस
कारण कहे हुए लक्षणवाले निजशुद्ध आत्माको ही मुक्तिका कारण जानो ॥ ४० ॥

एवं प्रथमस्थले शृत्रद्वयेन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्वरूपं सक्षेपेण व्याख्याय सदनन्तरं
प्रथमस्थले गाथापद्यकपर्यन्तं सम्यक्त्वादित्रयं क्रमेण विवृणोति । सत्राहौ सम्यक्त्वमाह ।

इस प्रकार प्रथम स्थलमें दो सर्वोपरि सक्षेपसे निश्चय मोक्षमार्ग और सम्यक्त्व मोक्ष

गर्भके स्वरूपका व्याख्यान करके अब आचार्य छः गाथाओंतक क्रमसे सम्पन्नदर्शन तथा सम्पूज्यारवि इन तीनोंका विस्तारसे वर्णन करते हैं। उनमें प्रथम ही सन्तानन्ददर्शनको कहते हैं।

जीयादीसद्ग्रहणं सम्मत्तं स्वमध्यगो तं तु ।

जीवादीसद्गुणं सम्मत्तं रूच्यमप्यणी त तु ।
दुरभिणिवेशविमुक्तं पाणं सम्मं खु होदि सदि जपि ॥

इतो विस्तारः—सम्यक्त्वे सति ज्ञानं सम्यग्भवतीति चतुष्कं तस्य विवरणं कियते
 याहि-गौतमाग्निभूतिवायुभूतिनामानो विष्णोः पञ्चपञ्चशतब्राह्मणोपाध्याया वेदचतुष्टयं, उषो
 ऽप्युक्त्याकरणदिपञ्चद्वानि, मनुस्मृत्याष्टादशस्मृतिशास्त्राणि तथा भारताष्टादशपुराणानि
 तीर्त्तान्मायविस्तर इत्यादिलौकिकसर्वशास्त्राणि यद्यपि जानन्ति तथापि तेषां हि ज्ञानं
 म्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानमेव । यदा पुनः प्रसिद्धकथान्यायेन भीवीरवर्धमानस्वामितीर्थ-
 रपरमदेवसमवसरणे मानससम्भावलोकनमात्रादेवागमभाषया दर्शनचारित्र्यमोहनीयोप-
 मक्षयसेहेनाध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च कालादिलब्धिविशेषेण
 तप्यात्वं विलयं गतं तदा तदेव मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानं जातम् । ततश्च “जयति भग-
 वन्” इत्यादि नमस्कारं कृत्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा कचलोचानन्तरमेव चतुर्ज्ञानसप्तद्विसम्प-
 त्त्येवोपि गणपरदेवाः संजाताः । गौतमस्वामी भव्योपकारार्थं द्वादशाङ्गभुतारचनां कृतवान् ।
 भविष्यपरब्रह्मप्रयमावनाचलेन प्रयोऽपि मोक्षं गताः । शेषाः पञ्चदशशतप्रमितब्राह्मणा जिन-
 क्षां गृहीत्वा यथासम्भवं स्वर्गं मोक्षं च गताः । अभव्यसेनः पुनरेकादशाङ्गधारकोऽपि
 म्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानी सञ्जात इति । एवं सम्यक्त्वमाहात्म्येन ज्ञानतपश्चरणब्र-
 पशमभ्यानादिकं मिथ्यारूपमपि सम्यग्भवति । तदभावे विषयकदुर्गमिष सर्व-
 इति ज्ञातव्यम् ।

अब विस्तारसे वर्णन करने हैं । उसमें प्रथम ही सम्यग्दर्शन होनेपर ज्ञान सम्यग्ज्ञान
 होता है यह जो कहा गया है उसका विवरण करते हैं । तथाहि पांच पांचमो ब्राह्म-
 णोंके अध्यापक (पढ़ानेवाले) गौतम, अग्निभूति और वायुभूति नामक तीन ब्राह्मण
 चारों वेद, उषोतिष्क व्याकरण आदि छहों अंग, मनुस्मृति आदि अठारह स्मृतिग्राम,
 महाभारत आदि अठारह पुराण, तथा नीर्मासा न्यायविस्तर इत्यादि समस्त लौकिक
 शास्त्रोंको जानते थे तो भी उनका ज्ञान, सम्यग्दर्शनके विना मिथ्या ज्ञान ही था ।
 परन्तु जब वे प्रसिद्ध कथोके अनुसार भीवीर वर्धमान (महावीर) स्वामी तीर्थंकर
 परम देवके समवसरणमें गये तब मानससंभक्त देखनेमात्रमें ही आगम भाषामें
 दर्शन मोहनीय और चारित्र्य मोहनीयके क्षयोपशमसे और आध्यात्म भाषामें निज शुद्ध
 अत्माके सन्मुख परिणाम तथा काल आदि लब्धियोंके विशेषसे उनका मिथ्यात्व
 नाशको प्राप्त होगया और उसी समय उनका जो मिथ्याज्ञान था वही सम्यग्ज्ञान
 होगया । और सम्यग्ज्ञान होते ही “जयति भगवान्” इत्यादि रूप जो प्रसिद्ध
 श्लोक है उससे भगवान्को नमस्कार करके श्रीजिनेन्द्रकी दीक्षाको धारण कर केसोऽङ्ग
 जो लोच किया उसके पीछे ही गति, भुत, अवधि और भवःपर्यय नामक चार ज्ञान
 तथा सात ऋद्धियोंके धारक होके तीनों ही श्रीमहावीर स्वामीके समवसरणमें गणपर
 देव होगये । उनमेंसे गौतमस्वामीने भव्यजीवोंके उपकारके अर्थ द्वादशाङ्गरूप भुक्की
 रचना की । फिर वे तीनों ही निश्चयरत्नत्रयकी भावनाके बलसे मोक्षको प्राप्त हुए ।

है भी फल नहीं देते हैं । फल कैसे नहीं देते हैं ! यदि ऐसा पूछो तो उत्तर यह है—रावणने, श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजीके विनाशके लिये बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की, और कौरवोंने पांडवोंका मूलसे नाश करनेके अर्थ कात्यायनी विद्या सिद्ध की थी, तथा कंसने श्रीकृष्ण नारायणके नाशके लिये बहुतसी विद्याओंकी आराधना की थी । परन्तु उन विद्याओंने श्रीरामचन्द्रजी, पाण्डव और श्रीकृष्णनारायणका कुछ भी निरुद्ध नहीं किया । और श्रीरामचन्द्रजी आदिने इन मिथ्यादृष्टी देवोंको अनुकूल नहीं किया अर्थात् नहीं आराधे तोभी निर्मलसम्यग्दर्शनसे उपासित जो पूर्वमवका पुण्य है निम्ने उनके सब विघ्न दूर होगये । अब लोकमूढताका कथन करते हैं । “गंगा आदि ती नदीरूप तीर्थ हैं इनमें स्नान करना, समुद्रमें स्नान करना, मानः (प्रमान) जलमें स्नान करना, जलमें प्रवेश करके मर जाना, मृतक (मूर्त) की अग्नि (विना) में प्रवेश करके मरना, गो (गाय) के पुच्छ आदिको ग्रहण करके मरण करना, विषी-अग्नि और बट (बड़) वृक्ष आदिकी पूजा करना” ये सब पुण्यके कारण हैं इस प्रकार जो लोक कहते हैं उसको लोकमूढता जानना चाहिये । अब समयमूढ अर्थात् दाय अथवा धर्म मूढताको कहते हैं । अज्ञानी लोगोंके चित्तमें चमत्कार (आश्चर्य) उत्पन्न करनेवाले जो ज्योतिष अथवा मंत्र बाद आदिको देखकर; श्रीवीरराग सर्वज्ञद्वारा कहा हुआ जो समय (धर्म) है उसको छोड़कर मिथ्यादृष्टी देव, मिथ्या आगम और खोटा तप करनेवाले कुलिङ्गी इन सबका भयने, बाँछने, घेरेगे और होमके बशसे जो धर्मके लिये मणाम, विनय, पूजा, सत्कार आदिना करना है उस सबको समयमूढता जानना चाहिये । इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणकी धारक जो तीन मूढता हैं इनको सरागमभ्यादृष्टीकी अवस्था (दशा) में त्यागना चाहिये । और मन, वचन तथा कायकी गुप्तिरूप अवस्था है लक्षण जिसका ऐसा जो श्रीनारागमभ्यास है उसके प्रस्ताव (निरूपण) में अपना निरंजन तथा निर्दोष जो परमात्मा है बढी देव है ऐसी जो निश्चय बुद्धि है यही देवमूढतासे रहितता जाननी चाहिये । तथा मिथ्यात्व-राग आदिरूप जो मूढभाव है इनका त्याग करनेमें जो निजगुण आत्मामें स्थितिका करना है यही लोकमूढतासे रहितता है यह जानने योग्य है । इसी प्रकार संपूर्ण शुभ तथा अशुभरूप जो संकल्प विकल्पस्वरूप पर भाव है उनके त्यागरूप जो विकाररहित-यामविक-परमानन्दमयलक्षणका धारक परम समता भाव है उससे उस निज शुद्ध आत्मामें ही जो सम्यक्प्रकारसे अवन अर्थात् गमन अथवा परिचयन करना है उसको समयमूढतासे रहितता समझना चाहिये । इस प्रकार तीन मूढ-ताका ध्याप्यान किया ।।

अथ महाप्रत्यक्षं कथ्यते । विज्ञानैश्वर्यज्ञानतपःपुल्लजातिरूपमसं सराष्टकं सरागमभ्य

गो भण्यते । तथा—रगादिदोषा अज्ञानं वाऽसत्यवचनकारणं तदुभयमपि धीतरागसंब-
 नास्ति ततः कारणात्तत्पणीते द्वयोपादेयतत्त्वे मोक्षे मोक्षमार्गे च भर्ष्यः संशयः सन्देहो
 कर्त्तव्यः । तत्र शङ्कादिदोषपरिहारविषये पुनरुक्तचौरकथा प्रतिष्ठा । तत्रैव विभीषण-
 का । तथाहि—सीतादृशप्रपञ्चके रावणस्य रामलक्ष्मणाभ्यां सह सङ्ग्रामप्रत्यावे विभी-
 णेन विचारितं रामस्तावदष्टमवलदेवो लक्ष्मणश्चाष्टमो वासुदेवो रावणाश्चाष्टमः प्रतिवा-
 न् इति । तस्य च प्रतिवासादेवस्य वासुदेवदृष्टेन मरणमिति जैनागमे पठितमासं
 निमज्ज्या न भवतीति निःशङ्कोभूत्वा त्रैलोक्यकण्ठकं रावणं स्वकीयभ्येष्टभ्रातृं त्यक्त्वा
 त्रैलोक्यादिणीप्रमितचतुरङ्गवलेन सह स रामस्याभिपार्थे गत इति । तथैव देवकीवसुदेवद्वयं
 निःशङ्कं ज्ञातव्यम् । तथाहि—यदा देवकीबालकस्य भाग्यनिमित्तं कंसेन प्रायणा कृता
 तदा ताभ्यां पर्यालोचितं महीयः पुत्रो नवमो वासुदेवो भविष्यति तस्य हृत्प्रेन जगामिन्पुनाशो
 नवमप्रतिवासादेवस्य कंसस्यापि मरणं भविष्यतीति जैनागमे भणितं विप्रतीति, तथै-
 वादिमुक्तमहारकैरपि कथितमिति निश्चित्य कंसाय स्वकीयं बालकं दत्तम् । तथा दोषभर्ष्य-
 रपि जैनागमे शङ्का न कर्त्तव्येति । इदं व्यवहारेण सम्यक्त्वस्य व्याख्यानम् । निश्चयेन
 पुनस्तस्यैव व्यवहारनिःशङ्कागुणस्य सहकारित्वेनेहलोकात्राणां गुणप्रमर्शज्याधिदेवनाकमिका-
 भियानमयसप्तकं मुक्त्वा धोरोपसर्गपरीपदप्रसावेऽपि शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयप्रमर्शभावेनैव
 निःशङ्कगुणो ज्ञातव्य इति ।

१/ जब इसके अनंतर दांका आदि आठ दोषोंके त्यागका कथन करते हैं । नि शङ्क
 आदि आठ गुणोंका जो पालन करना है यही प्रकादि आठ मलों (दोषों) का त्याग
 कहलाता है । यह हम प्रकार है—राग आदि दोष तथा अज्ञान ये दोनों अगम्य
 (संत) ध्यान बोलनेमें कारण हैं और रागादि दोष तथा अज्ञान ये दोनोंही बीज-
 राग सर्वज्ञ श्रीजिनेन्द्र देवोंके नहीं है इस कारण श्रीजिनेन्द्रदेवोंने निश्चयिन किसे हुए
 दोषोपादेयतत्त्वमें अर्थात् यह त्याग्य है यह प्राप्ति है इस प्रकारके तत्त्वों, बोलनेमें
 और मोक्षमार्गमें भय्यजीवोंको सन्देह नहीं करना चाहिये । इस स्थलमें प्रथम जो दांका
 दोष है इसके त्याग विषयमें अंजन चौरकी कथा दाखोनें प्रतिष्ठा ही है और
 विभीषणकी भी कथा इस प्रकारमें जाननी चाहिये । उसीका कथन करते हैं कि,
 सीताजीके हरणके प्रसंगमें जब रावणका श्रीरामलक्ष्मणके साथ युद्ध करनेका आग्रह
 आया तब विभीषणने विचार किया कि श्रीरामचंद्रजी तो अष्टम (८ वें) अष्टम दे
 और लक्ष्मणजी अष्टम नारायण हैं तथा रावण अष्टम अनिनासायण हैं । और जो
 प्रतिनारायण होता है उसका नारायणके हाथसे मरण होगा है ऐसा उमराजोंमें
 पढ़ा गया है, यह मिथ्या नहीं हो सकती इस प्रकार दाखारहित होकरवे अपना बट्टा
 भाई जो तीन लोकका कंठक रावण था उसको छोड़कर तीन अर्द्धादिणी सेना प्रण-
 जो अपना चतुर्ग (हाथी, घोटा, रथ, पादोदर) बल था उस सहित अर्द्धादिणीसेना
 लीप बना गया । इसी प्रकार देवकी तथा वासुदेवको भी दाखारहित जानना ।

नेके नित्ये सीताजी अमिकुंडमें दिव्य (धीज) लेकर निर्दोष सिद्ध हुई तब श्रीराम-
जीने उनको पद्महाराणीका पद दिया; परन्तु सीताजीने पद्महृदिवीकी संरक्षाको
कर केवलशानी श्रीसकलभूषण मुनिके चरणमूलमें कृतान्तवक आदि राजा तथा
तत्सी रानियोंमहिन श्रीजिनदीक्षाको ग्रहण करके शक्तिप्रभार आदि अर्थिकाओंके समूह
हित प्राम, पुर, सेटक आदिमें विहार द्वारा भेदभेद रूप रत्नत्रयकी भावनामें
मठवर्ष पर्यन्त जिनमत्तकी प्रभावना की । फिर अन्त्य समयमें तैत्थीम दिनपर्यन्त निर्विकार
साम्राज्यके ध्यानपूर्वक संन्यास (समाधि भरण) करके अच्युत नामक मोहहर्त्रे स्वर्गमें
सीन्द्र हुई । और यहांपर उन्होंने (सीताजीके जीव प्रतीन्द्रने) अवधिज्ञानमें निर्मल
न्यादर्शनके फलको देखकर धर्मके अनुरागसे नरकमें जाके रावण और लक्ष्मणके जीवों
से संबोधा और वे (प्रतीन्द्र) अब स्वर्गमें विराज रहे हैं । आगे सीताजीका जीव स्वर्गमें
जाकर सकल चक्रवर्ती होगा और वे दोनों रावण तथा लक्ष्मणके जीव इस चक्रवर्तीके पुत्र
में । यद्वात् श्रीतीर्थकरके चरणमूलमें अपने पूर्वमवस्थाको देकर दोनों पुत्र तथा पत्निका-
हित सीताजीका जीव सकल चक्रवर्ती दीक्षाको ग्रहण कर भेदभेदरत्नत्रयकी भाव-
नामें सीता, रावण तथा लक्ष्मण वे तीनों ही पांच अनुचर विमानोंमें अष्टमिन्द्र होंगे ।
और रावण तो तीर्थकर होगा और सीताजीका जीव गणपर होगा । तथा
लक्ष्मणकी धातकी गंडद्वीपमें तीर्थकर होगा । इस प्रकार व्यवहार निष्काशनागुणका
व्यवहार जानना चाहिये । और निश्चयसे उसी व्यवहार निष्काशनागुणकी गहायनामें देव,
मान तथा अनुभव किये हुए जो पांचों इन्द्रियोंसंयुक्ती भोग हैं इनके त्यागमें निश्चय-
रत्नत्रयकी भावनासे उत्पन्न जो पारमार्थिक निज आत्मामें उत्पन्न भुवस्वकी अग्रतः ११
हैं उनमें जो चित्ता संतोष होना है वही निष्काशनागुण है ।

अथ निर्विकिरितागुणं कथयति । भेदभेदरत्नत्रयाराधकभयजीवानां दुर्गन्धदीप्ता-
रिक्तं दृष्टाधर्मयुज्जा फारुण्यभावेन वा यथायोग्यं विविचिरितापरिदृष्टं द्रव्योपनिषिद्धि-
गुणो भण्यते । परन्तु जैनसमये सर्वे समीचीने परं किन्तु वस्तुभावरणं जल्लानादिषु च
न दुर्बन्ति तदेव दूषणमित्यादिपुनरितभवावस्य विविचिरिविचिक्तेन परिहरणे शा निर्विकि-
रिता भण्यते । अयं व्यवहारनिर्विकिरितागुणस्य विषय वहायनेमहासाजवचा विसम-
महादेवीकथा यागमपरिदा ज्ञानव्येति । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिर्विकिरितागु-
णस्य बलेन समस्तद्वेषादिविकल्पककलोलमाहात्यागं निर्मलारानुभूतिरुत्पत्ते निश्चि-
र्यानि व्यवहारानि निर्विकिरितागुणं हति ।

अथ निर्विकिरिता नामक गुणको कहते हैं । भेद भेदरत्न ११ रत्नत्रयको आराधने
करने जो भयभीत हैं उनकी दुर्गन्धि तथा भयकर आहूति आदिको देखकर धर्मदुष्टिने
अमरा वहायनेमहासाजवचा विसममहादेवीकथा यागमपरिदा ज्ञानव्येति को जो दूर करना है ११

द्रव्यनिर्विचिकित्सा गुण कहते हैं । और "जैनमतमें सब अच्छी २ वस्तुके आवरणसे रहितता अर्थात् नम्रपना और जलस्नान आदिका न होना दूषण है" इसको आदि ले जो कुत्सित (बुरे) भाव हैं इनको विशेषरूपसे जो दूर करना वह निर्विचिकित्सा कहलती है । यह जो व्यवहार निर्विचिकित्सा पालनेके विषयमें उदायन नामक महाराजा तथा रुक्मिणी नामक श्रीकृष्णजी कथा शास्त्रमें प्रसिद्ध जाननी चाहिये । और निश्चयसे तो इसी कित्सा गुणके बलसे जो समस्त रागद्वेष आदि विकल्परूप तरंगोंके से करके निर्मल आत्मानुभव लक्षण निजशुद्ध आत्मामें स्थिति करना है वह कित्सागुण है ॥ ३ ॥

इतः परममूढदृष्टिगुणकथां कथयति । वीतरागसर्वज्ञप्रणीतागमार्थाद्विर्भूतः त्रणीतं त्पादकं दृष्ट्वा धृत्वा च योऽसौ मूढमात्रेण धर्मबुद्ध्या तत्र क्वचि भक्तिं न कुर्वते स हारोऽमूढदृष्टिर्बुध्यते । तत्र चोत्तरमधुरायां साधरप्रत्यक्षचारिसम्बन्धिनी कथा प्रसिद्धेति । निश्चयेन पुनस्तस्यैव प्रसादेनास्तत्त्वव्यवहितत्त्वनिश्चये जाते सति समस्तमिष्यात्वरगादिगुणानुभवः स्वेष्टात्मबुद्धिमुपादेयबुद्धिं हितबुद्धिं ममत्वभावं त्यक्त्वा त्रिगुतिरूपेण स्वभावे निजात्मनि यजिञ्जलावस्थानं तदेवामूढदृष्टिर्बुध्यते । सत्त्वविकल्परूपेण पुनश्चलप्रारौ बहिर्मुख्ये ममेदमितिकल्पना सत्त्वः, अभ्यन्तरे मुख्यं दुःखवृत्तिविषादकारणं विकल्प इति । अथवा वस्तुवृत्त्या सत्त्वः इति कोऽपि विद्वान् मय्येव पर्यायः ॥ ४ ॥

१) अब हमके आगे अमूढदृष्टि गुणका कथन करने हैं । वीतराग सर्वज्ञ कथित जो शास्त्रका आगम है उससे बहिर्भूत जो कुदृष्टियोंके मनोमें हुए जनोके वित्तमें विस्मय उत्पन्न करनेवाले भानुवाद (रसायनशास्त्र) समस्त मन्त्र, सूत्रविद्या, व्यन्तर विकुर्वणादिक शास्त्र हैं उनको देखकर तथा सुनकरके जो मूढभावमें धर्मकी बुद्धि करके उनमें प्रीतिको तथा भक्तिको नहीं करता है उसीको हममें अमूढदृष्टि गुण कहते हैं । और हम गुणके पावनके विषयमें उत्तर उद्गति महारक, खेती आदिआ और चंद्रप्रमनामक विमाधर प्रभवकीर्तिशास्त्रोंमें प्रसिद्ध है । और निश्चयमें इसी व्यवहार अमूढदृष्टि गुणके प्रसारमें जो मन्त्रके तत्त्व (आत्मा) और वाचनत्व (शरीरादि) का निश्चय हो जन्म मूर्धन निष्पन्न, गमआदि तथा शुभ-अशुभ-संक्रयविकल्पोंके दृष्ट जो इनमें जो दृष्टदेव (मन्त्र) बुद्धि, दित्तबुद्धि और ममत्वभाव हैं उनको छोड़कर मन, कथ इन तीनोंकी शुचिरूपमें विशुद्धज्ञान तथा दर्शन स्वभावका भाव निश्चय

जो निवारण करना (ठहरना) है वही अमृददृष्टिः नामा गुण है । संकल्प और उसके निवारणको करते हैं । पुत्र तथा स्त्री आदि जो बाध पदार्थ हैं, उनमें ये मेरे ऐसी जो वस्तुना है वह तो संकल्प है, और अन्तरंगमें ये सुखी हूं मैं दुःखी हूं इस प्रकार जो हर्ष तथा रोदका करना है वह विकल्प है । अथवा अर्थार्थरूपसे जो संकल्प है ही विकल्प है अर्थात् संकल्पके विवरण रूपसे विकल्प संकल्पका पर्याय ही है ।

अदोषगूहनगुणं कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपो मोक्षमार्गः स्वभावेन शुद्ध एव भवति, मन्नाशानिजननिमित्तेन तथावाशकजननिमित्तेन च धर्मस्य वैशुन्यं दूषणमपवादो दुष्प-
रावना यदा भवति तदागमाविरोधेन यथाशक्त्यर्थेन धर्मोपदेशेन वा यद्वैधर्म्यं होयस्य तन्मनं निवारणं क्रियते तद्व्यवहारमनेनोपगूहनं भव्यते । तत्र मायाप्रज्ञाचारिणा पार्थभट्टा-
कृतविमलप्रसरद्वारे कृते सत्युपगूहनविषये जिनदत्तभेदिकया प्रसिद्धेति । अथवा रुद्रज-
न्या ज्येष्ठार्चहाया लोकापवादे जाते सति यदोपसम्पन्नं कृतं तत्र चेलिनीमहादेवीकथेति ।
यदैव निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारोपगूहनगुणस्य सहकारित्वेन निजनिरञ्जननिर्दोषपरमा-
त्मनः प्रच्छादका ये मिथ्यात्वदागादिदोषास्तेषां तस्मिन्नेव परमात्मनि सम्यक्बुद्ध्यान्तानातु-
ष्टान्तरूपं यद्वर्णनं तेन प्रच्छादने विनाशानं गोपनं सम्पन्नं तदोपगूहनमिति ॥

अथ उपगूहन गुणका कथन करते हैं । यद्यपि भेद अभेद रत्नत्रयकी भावना रूप जो मोक्षमार्ग है वह स्वभावसे ही शुद्ध है तथापि उसमें जब कभी अज्ञानी मनुष्यके निमित्तसे अथवा वर्णपालनमें असमर्थ जो पुरुष हैं उनके निमित्तसे जो धर्मकी जुगली, निन्दा, दू-
षण तथा अप्रभावना हो तब शास्त्रके अनुकूल धार्मिके अनुसार धनसे अथवा धर्मके उपदे-
शसे जो धर्मके लिये उसके दोषोंका ढकना है तथा दूर करना है उसको व्यवहार उप-
गूहन गुण कहते हैं । इस व्यवहार उपगूहन गुणके पालनके विषयमें जब एक कपटी ब्रह्म-
चारिने श्रीपार्थनाथस्वामीकी प्रतिमामें लगे हुए रत्नको चोरा उस समय जिनदत्त घोटने जो
उपगूहन किया था वह क्या शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है । अथवा रुद्र (महादेव) की जो ज्येष्ठा
मातृक माता थी उसका जब लोकापवाद (लोकनिन्दा) हुआ तब उसके दोषके ढकनेमें
चेलिनी महाराणीकी क्या शास्त्रप्रसिद्ध है । इसी प्रकार विषयसे व्यवहार उपगूहन गुणकी
सहायतामें अपने निरञ्जन निर्दोष परमात्माको ढकनेवाले जो राग आदि दोष हैं उन दो-
षोंका उसी परमात्मामें सम्यक् बुद्ध्यान्, ज्ञान तथा आचरणरूप जो ध्यान है उसके द्वारा
जो ढकना, नाश करना, छिपाना तथा झंपन है वही उपगूहन है ।

अथ स्थितीकरणं कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयधारकस्य चातुर्वर्णसङ्कल्पस्य अथे यदा कोऽपि
दर्शनधारित्रमोहोदयेन दर्शनं हानं चारित्र्यं वा परित्यजुं वाञ्छति तदागमाविरोधेन यथाश-
क्त्या धर्मभवेन वा अर्थेन वा सामर्थ्येन वा केनाप्युपायेन यद्वैधर्म्यं स्थिरत्वं क्रियते तद्व्यवहारेण
स्थितीकरणमिति । तत्र च पुष्पहालवचोपनस्य स्थितीकरणप्रस्तावे चारित्र्येण बुभारकधायगमप्रसि-
द्धेति । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारेण स्थितीकरणगुणेन धर्मदृढत्वे जाते सति दर्शनधारित्र-

मोहोदयजनितसमस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पजालत्यागेन निज...
रमानन्दैकलक्षणमुखाश्रुतरसास्वादेन तद्व्यतन्मयपरमसमरसीभावेन ...
स्थितीकरणमिति ।

१) अब स्थितीकरणगुणका कथन करते हैं । भेद तथा अभेद रूप ... वाला जो मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका रूप चार प्रकारका संप है दर्शनमोहनीके उदयसे दर्शनको अथवा चारित्रमोहनीके उदयसे चारित्रको इच्छा करे उसको शास्त्रकी आज्ञानुसार यथाशक्ति धर्मोपदेश श्रवण करानेसे, मर्त्यसे अथवा किसी उपायसे जो धर्ममें स्थिर करदेना है वह व्यवहारसे गुण है ॥ और इस गुणमें पुष्पडालमुनिको धर्ममें स्थिर करनेके प्रसंगमें बार्हिषेन कथा शास्त्रप्रसिद्ध है ॥ और निश्चयसे उसी व्यवहारस्थितीकरणगुणसे जब बन्ने होजावे तब दर्शनमोहनी तथा चारित्रमोहनीके उदयसे उत्पन्न जो समता आदि विकल्पोका समूह है उसके त्यागद्वारा निज परमात्माकी भावनासे उत्पन्न नंदरूप मुक्तामृत रसके आस्वादरूप जो परमात्मामें लीन अथवा परमात्मत्वरूप (समता) भाव है उससे जो चित्तका स्थिर करना है वही स्थितीकरण है ॥

अथ वास्तव्याभिधानं सप्तमाहं प्रतिपादयति । वासाभ्यन्तररत्नप्रयागारे
धेनुवपश्चेन्द्रियविषयनिमित्तं पुत्रकलत्रमुषणादिश्रेयवद्वा यदृष्टप्रिमज्ञेदकरणे
वात्मन्ये मयते । तत्र च दक्षिणागमुत्तमपतिपद्मराजसंयन्धिना वलिनामुत्तमपति
मयश्चन्द्राद्वारमन्त्रमाराधकाकम्पनाचार्यप्रभृतिस्तनतयहीनामुपसर्गे क्रियमाणे मति
कुनारनाम्ना निमयश्चन्द्राद्वारमोक्षमागाराधकपरमयतिना विदुर्नगद्विप्रमोषेण वासन्त्ये
वर्तिमन्त्रिणां पादप्रयप्रमाणभूमिप्रार्थनं कृत्वा वशादेकः पादो मेरुमण्डके वसो द्वितीयो व
षोणावर्तने तृतीयपादस्यावकाशो नास्तीति वषनच्छलेन मुनिवास्तव्यनिमित्तं वसिष्ठो व
दनेन तावदागमप्रतिष्ठा कया । द्वितीयां च दशपुरनगराधिपतेर्वैभक्त्यनाम्नः । वसिष्ठो व
वर्तिना निद्रोद्वमहाराजेन जैनोद्वे मम नमस्कारे न करोतीति मत्वा दशपुरनगरे व
वेगोद्वमति क्रियमाणे भेदाभेदप्रत्ययमावनाश्रियेण रामस्वामिना वसुकेण वास्तव्यनिमित्तं नि
वेदने वद्वे इति गमायनमध्ये प्रसिद्धेयं वास्तव्यकथेति । निशयवास्तव्यं पुनश्चैव व
वास्तव्यगुण्य मद्रुकाश्विनेन धर्म्ये दृष्टे जाते सति मिथ्यावागादिगममनुमानादि
भोगुर्द्वेति नक्त्या वागादिद्विकृतोपायविरहितरसमन्वात्म्यमवितिग प्रायगजानने दृष्टव
द्वेष्टव्यगुण्यद्वेति दीनिकरणमेवेति मनमाहं व्याकयावम् ॥

१० अथ ब्रह्मण्य नामक मन्त्र ध्यान करने का निरूपण करने हैं । ब्रह्म और आत्मान इन दोनों प्रत्यक्ष शब्दों को ध्यान करनेवाले मुनि, आदिष्ठा, आचरु तथा आदिष्ठा का जो वह महिम्ना है उसे ही (गण्य) की कल्पना प्रीति रहनी है उसके समान; अथवा जो ही शिरोधार्य शक्ति है वृत्ति, वृत्ति, अथवा आदिष्ठा जो श्रेष्ठ रहना है उसके समान; अथवा जो ही (स्त्री) का जो ध्यान है वह शब्दध्यानवर्ती ध्यान के ब्रह्मण्य कहा जाता है ।

(२२) का जो काम है वह व्यवस्थानुसार अंगुली से बगल से कहा जाय है।

दिएमें हसिनागपुर (दधनापुर) के राजा पञ्चराजके बलिनामक दुष्ट मंत्रीने जब नि-
 और व्यवहार रत्नत्रयके आराधक अकंपनाचार्य आदि सातसो मुनियोंके उपसर्ग किया
 निधय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) के आराधनेवाले विष्णुकुमार नामक महा-
 धिभरने बिक्रियाप्रदिके प्रभावसे बामन रूपको धारण करके बलिनामक दुष्ट मंत्रीके पाससे
 न पैग प्रमाण दृष्टीकी थाचना की और जब बलिने देना स्वीकार किया तब एक पग तो
 के सिमरपर दिया, दूसरा मानुषोत्तर पर्वतपर दिया और तीसरे पादको रत्ननेके लिये
 पक्ष (म्यान) नहीं रहा तब बचनटलसे प्रतिज्ञाभंगका दोष लगाकर मुनियोंके वात्सल्य
 निष बनिमयीको बांध लिया. यह तो एक आगमप्रसिद्ध कथा है ही और दूसरी वज्रकर्ण
 नक दशपुर नगरके राजाकी प्रसिद्ध कथा है । यह यह है कि उज्जयिनीके राजा सिंहोदरने
 ब्रह्म जैनी है और मुक्तको नमस्कार नहीं करता है' ऐसा विचार करके जब वज्रकर्णसे
 स्कार करानेके लिये दशपुर नगरको घेर कर घोर उपसर्ग किया तब भेदाभेद रत्नत्रयकी
 बना है प्यारी जिनकी ऐसे श्रीरामचंद्रजीने वज्रकर्णके वात्सल्यके अर्थ सिंहोदरको बांध
 रा । इस प्रकार यह कथा रामायण (पद्यपुराण) में प्रसिद्ध है । और इसी व्यवहारवा-
 ल्यगुणके सहकारीपनेसे जब धर्ममें दृढ़ता हो जाती है तब मिथ्यात्व, राग आदि संपूर्ण
 पदार्थमें प्रीतिको छोड़कर राग आदि विकल्पोंकी उपाधिरहित परमस्वास्थ्यके ज्ञानसे
 उत्पन्न सदा आनंद रूप जो सुखमय अमृतका आस्वाद है उसके प्रति प्रीतिका करना
 ही निधय वात्सल्य है । इस प्रकार सप्तम वात्सल्यअंगका व्याख्यान पूर्ण किया ।

अथाष्टमाङ्गं नाम प्रभावनागुणं कथयति । आचकेन दानपूजादिना तपोधनेन च तपःपु-
 शादिना जैनशासनप्रभावना कर्त्तव्येति व्यवहारेण प्रभावनागुणो ज्ञातव्यः । तत्र पुनरुत्तर-
 मपुराणं जिनसमयप्रभावनाशीलवाया उगविह्वामहादेव्याः प्रभावनानिमित्तमुपसर्गं जाते सति
 बज्रकुमारनाम्ना विद्याधरभ्रमणेनाकाशे जैनरथभ्रमणेन प्रभावना कृतेत्येका आगमप्रसिद्धा
 कथा । द्वितीया ॥ जिनसमयप्रभावनाशीलवभ्रामहादेवीनामस्वकीयजनन्या निमित्तं स्वस्व ध-
 मानुरागेण च हरिपेणनामदशमचक्रवर्तिना तद्भवमोक्षप्राप्त्या जिनसमयप्रभावनायमुत्तुङ्ग-
 शेरिणजिनचैलालयमण्डितं सर्वभूमितलं कृतमिति रामायणे प्रसिद्धेयं कथा । निज्रयेन पुन-
 सत्सैव व्यवहारप्रभावनागुणस्य बलेन मिथ्यात्वविषयकपापप्रसृविसमस्तविभावपरिणामरूप-
 परसमयानां प्रभावं हत्वा शुद्धोपयोगलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन विमुक्तज्ञानदर्शनस्वभावनिजमुद्धा-
 त्मनः प्रकाशनमनुभवनेमेव प्रभावनेति ॥ ८ ॥

जब अष्टम अंग अर्थात् प्रभावनागुणका कथन करते हैं । आचक तो दान पूजा आ-
 दिसे जो जैन मतकी प्रभावना करे और मुनि तप, श्रुत आदिसे जैनधर्मकी जो प्रभावना करे
 वही व्यवहारसे प्रभावना गुण है ऐसा जानना चाहिये । और इस गुणके पालनेमें उत्तर-
 मपुराणमें (मधुराणमें) जिनमतकी प्रभावना करनेका है स्वभाव जिसका येमी उग (१) बिला
 महादेवीकी प्रभावनाके निमित्त जब उपसर्ग हुआ तब वज्रकुमार नामक विद्याधर भ्रमणेने

नरेवन्दिन्द्रदेवनीचदेवप्रथं विहायान्येषु महाद्विकदेवेषूपगते सम्यग्दृष्टिः । इदानीं
नरमाणात्पूर्वदेवायुष्क विहाय ये बह्मायुष्मास्तान् प्रति सम्यक्त्वमाहात्म्यं कथयति । “हे-
तुतबीनं जोइसवणभयनसत्त्वहृष्टीसु । पुण्यिदरेण दि सम्मोण सासणो णारया पुणो
” इतिवार्थं प्रचारान्तरेण कथयति “ज्योतिर्भावनमीमेसु पदस्वयः श्रमभूमिषु । तिर्यक्षु
सु सट्टिर्नैव जायते ॥ १ ॥” अथौपशमिकवेदकक्षायिकाभिधानसम्यक्त्वप्रथमस्य
गते कस्य सम्यक्त्वस्य सम्भवोऽस्तीति कथयति “सौधर्मादिष्वसंख्याद्यायुष्कतिर्यक्षु
१ । रत्नप्रभावनी य स्यात्सम्यक्त्वप्रथमजिनाम् ॥ १ ॥” कर्मभूमिजपुरुषे च प्रथं सम्भवति
ज्मे स्यात्पुण्येऽपि । किन्तौपशमिकमपर्यामावस्थायां महाद्विकदेवेष्वेव । “दोषेषु देवति-
दस्वयः श्रमभूमिषु । द्वौ वेदकोपशमकौ स्यातां पर्याप्तदेहिनाम् ॥ १ ॥” इति निश्चयव्यव-
हारात्यक्तमोक्षमार्गावपदिनः प्रथमावयवभूतस्य सम्यक्त्वस्य व्याख्यानेन गाथा
॥ ४१ ॥

व जिन जीवोंके सम्यग्दर्शनका ग्रहण होनेके पहले आयुष्क बंध नहीं हुआ
। वे प्रतक्का अभाव होनेपर भी अर्थात् मृत न करनेपर भी नर नारक आदि
द्वीप स्थानोंमें जन्म नहीं लेते ऐसा कथन करते हैं । “जिनके शुद्ध सम्यग्दर्शन
है ऐसे जीव नरकगति और तिर्यच गतिमें नहीं उपजते हैं और नपुंसक, स्त्री,
बिबुल, अंगहीन शरीर, अल्प आयु और दरिद्रीपनको नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥”
इसके आगे मनुष्य गतिमें जो सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है उसके प्रभावका वर्णन
किए हैं । “जो दर्शनसे शुद्ध है ऐसे जीव दीप्ति, प्रताप, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय
र विभवसे सहित होते हैं और उत्तम कुलवाले, तथा विपुल (बहुत) धनके स्वामी
हैं तथा इन पूर्वोक्त गुणोंसे वे सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ होते हैं ॥ १ ॥” अब जो सम्यग्दृष्टि
गतिमें उत्पन्न होवे सो प्रकीर्णक देव, बाहन देव, किस्विप देव, व्यन्तर देव, भवन-
नी देव और ज्योतिषी देवोंके पर्यायको छोड़कर अन्य जो महाद्विकदेवोंके धारक देव हैं
वे उत्पन्न होते हैं । अब जिन्होंने सम्यक्त्वका ग्रहण करनेके पहले ही देव आयुको छो-
ड़ अन्य किसी आयुष्क बंध कर लिया है उनके प्रति सम्यक्त्वका माहात्म्य कहते हैं ।
अब नरकको छोड़कर अन्य ६ नरकोंमें, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंमें, सब
“और तिर्यचोंमें, सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता ॥ १ ॥” अब इसी आशयको अन्य
प्रकारसे कहते हैं कि “ज्योतिषी, भवनवासी और व्यन्तर देवोंमें, नीचेके ६ नरकोंकी पृ-
थिवियोंमें, तिर्यचोंमें और मनुष्यस्त्रियों तथा देवस्त्रियोंके विषे सम्यग्दृष्टि नहीं उत्पन्न होता
है । अब औपशमिक, वेदक और क्षायिक नामा जो तीन सम्यक्त्व हैं इनमेंसे किस गतिमें
इनसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति हो सकती है सो कहते हैं । “सौधर्म आदि सगोंमें असंख्यात
प्राप्ती आयुके धारक तिर्यच और मनुष्योंमें अर्थात् भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यचोंमें तथा
कृपमा नामक प्रथम नरक पृथ्वीमें जीवोंके उपशम, वेदक और क्षायिक ये तीनों सम्यक्त्व

प्रथम भेद जो परिकर्म है वह पांच प्रकारका है । सूत्र एकही प्रकारका है ।
 भी एकही प्रकारका है । और जो चौथा पूर्वगत है वह उत्पादपूर्व १ अग्रयनीगत
 र्यानुप्रवादपूर्व ३ अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व ४ ज्ञानप्रवादपूर्व ५ सत्यप्रवादपूर्व ६
 ७ कर्मप्रवादपूर्व ८ प्रत्याख्यानपूर्व ९ विद्यानुवादपूर्व १० कल्याणपूर्व ११
 १२ क्रियाविशालपूर्व १३ और लोकसारपूर्व १४ इन भेदोंसे चौदह प्रकारका है ।
 चूलिका १ स्थलगत चूलिका २ आकाशगत चूलिका ३ हरमेखला आदिमायासक्त
 ४ और शाकिन्यादिरूप परावर्तन चूलिका ५ इन भेदोंसे चूलिका पांच प्रकारकी है ।
 प्रकार संक्षेपसे द्वादशांगका व्याख्यान है । और जो अंगवाक्य श्रुतज्ञान है वह
 १ चतुर्विंशतिस्तव २ बंदना ३ प्रतिक्रमण ४ वैयर्थिक ५ कृतिकर्म ६
 अनुत्तराध्ययन ८ कल्पव्यवहार ९ कल्पाकरूप १० महाकरूप ११ पुंडरीक, १२
 रीक १३ और अशीतिक १४ इन प्रकीर्णकरूप भेदोंसे चौदह प्रकारका जानना

अथवा वृषभादिचतुर्भिः । नवशामुदेवसुमीरादिनवप्रतिशामुदेवसम्बन्धिषष्टिपुरुषपुराणभेदभिन्नः ।
 वपासकाण्डयनादौ भावकर्ममन्त्र, आचारादिनादौ यतिधर्मं च यत्र मुख्यत्वेन
 परमानुयोगो भण्यते । त्रिलोकसारं जिनान्तरलोकविभागादिग्रन्थव्याख्यानं
 विशेषः । प्राञ्जलतत्त्वार्थसिद्धान्तादौ यत्र शुद्धाशुद्धजीवादिषट्द्रव्यादीनां मुख्यवृत्तेश्च
 कथ्यते सा द्रव्यानुयोगो भण्यते । इत्युक्तलक्षणानुयोगचतुष्टयरूपेण चतुर्भिः
 मन्त्रैः । अनुयोगोऽधिकारः परिच्छेदः प्रकरणमित्याद्येकोऽर्थः ।
 यगज्जलरवनरादार्थेषु 'मध्ये' निश्चयनयेन स्वकीयशुद्धारमप्राप्त्यर्थं, स्वशुद्धजीवानिहायेन
 द्वायमप्राप्त्यर्थं, निजशुद्धारमप्राप्त्यर्थं उपादेयः । शेषं च हेयमिति संश्लेषेण हेवोपादेयभेदेन
 स्ववृद्धारजानमिति ॥

अथवा नृपम आदि धीवीम तीर्थकरोका, भरत आदि बारह चक्रवर्तियोंका, आदि नौ बन्देवोंका, विविष्ट आदि नौ नारायणोंका, और समीप आदि नौ मंथ रत्ननेत्रादि जो निरमल ६३ ब्रह्माकापुरुषोंके पुराण हैं उनका प्रथम चक्र प्रथमानुयोग कहलाना है। उपागकाध्ययन आदिमें आर्यका धर्म, और अदि ग्रन्थोंमें मुनिका धर्म जहां मुख्यनामे कहागया है वह दूसरा चरणानुयोग कहा है। विवेकमय, विनय और लोकविभाग आदि ग्रन्थोंका व्याख्यान शिष्योंके चरणानुयोग जानना चाहिये। समयमार आदि प्राग्भूत (पादु) और तत्त्वानुयोग विद्वान् आदि ग्रन्थोंमें मुख्यनामे शुद्ध-अशुद्ध जीव आदि छः द्रव्य आदि का विचार करना है वह द्रव्यानुयोग कहलाना है। इस प्रकार एक सप्तमके बारह चरणानुयोग हैं उनका चतुर्थ प्रकारका अनुमान जानने योग्य है। अनुयोग, अविज्ञान, अविज्ञान और अज्ञान इत्यादि अर्थोंका अर्थ एक ही है। अथवा वह द्रव्य, पांच अविज्ञान

... स्वनात्मना स्वस्य सम्प्राप्तावकस्वरूपज बदन
 ज्ञानमनुभवनमिति निर्विकल्परूपसंवेदनज्ञानमेव निश्चयज्ञानं भण्यते ॥

अब जो विकल्परूप व्यवहारज्ञान है उसीसे साध्य (सिद्ध होने योग्य) जो निश्चयज्ञान
 उसका कथन करते हैं । जैसे—रागके उदयसे परस्त्री आदिमें बांछारूप, और द्वेषसे अन्य
 ॥ १॥ भेदों के मारणे, बांधने अथवा छेदने रूप जो मेरा दुर्ध्यान (बुरा परिणाम) है उसको
 कोई भी नहीं जानता है ऐसा मानकर निज शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न, निरन्तर आनन्द-
 रूप एक लक्षणका धारक जो मुरारूपी अमृतरस बही हुआ जो निर्मल जल उस निर्मल
 ॥ २॥ अपने चिपकी शुद्धि की नहीं करता हुआ वह जीव बाहरमें भुगले जैसे बेचको
 मारणकर जो लोकोंको प्रसन्न करता है वह मायाशक्त कहलाता है । और अपना निरेजन
 दोषरहित जो परमात्मा है वही उपादेय है इस प्रकारकी स्वरूप ओ साम्प्रत्यक्ष है उसमें
 विपरीत लक्षणका धारक जो कोई है उसको मिथ्याशक्त कहते हैं । और विकाररहित—परम
 चैतन्यकी भावनासे उत्पन्न—परम आनन्दस्वरूप—सुखामृतके रसके स्वादको नहीं प्राप्त हुआ
 वह जीव जो देखेहुए, सुनेहुए तथा अनुभवमें लगेहुए भोगोंमें निरन्तर चिपको देता
 है वह निदान शक्त कहलाता है । इस प्रकार उक्त लक्षणके धारक जो माया, मिथ्या और
 निदानरूप तीन शक्त्यस्वरूप विभाव परिणाम हैं इनको आदिलेके जो संपूर्ण शुभ तथा
 अशुभरूप संस्कार विकल्प दे उनमें रहित और परम निजस्वभावके जाननेमें उत्पन्न जो
 मयार्थ परमानन्दरूप एक लक्षणस्वरूप सुखामृत उसके रसके आस्वादनेसे प्राप्त हुआ ऐसा
 जो अपना आत्मा है उसके द्वारा जो (स्व) निजस्वरूपका (सं) भस्मकार अर्थात् नि-
 कल्परूपसे 'वेदन' जानना अर्थात् अनुभवमें करना है वही नि-
 श्चयज्ञान कहा जाता है ॥

प्राप्नोति । वगमादिति चेन् वस्तुप्राप्तकं प्रमाणं; वस्तु च सामान्यविशेषात्मकं; ज्ञानेन पुन-
त्वेकदेशो विशेष एव गृहीतो; न च वस्तु । सिद्धान्तेन पुनर्निश्चयेन गुणगुणिनोरभिन्न-
त्वं संशयविमोहविभ्रमरहितवस्तुज्ञानस्वरूपात्मैव प्रमाणम् । न च प्रदीपवत् स्वपरगतं सा-
म्यं विशेषं च जानाति । तेन कारणेनाभेदेन तस्यैव प्रमाणत्वमिति ।

यहाँपर शिष्य कहता है कि हे गुरु ! यदि आप आत्मा (अपने)को ग्रहण करनेवाला
तो है उसको दर्शन, और जो पर पदार्थको ग्रहण करनेवाला है उसको ज्ञान कहते हैं तो
त्यागिकोंके मतमें जैसे ज्ञान आत्माको नहीं जानता है; वैसेही जैन मतमेंभी ज्ञान आ-
त्माको नहीं जानता है; ऐसा दूषण प्राप्त होता है । अब इस शिष्यकी शंकाको आचार्य
करते हैं कि नैयायिकमतमें ज्ञान जुदा और दर्शन जुदा इस प्रकारसे दो गुण नहीं हैं
अर्थात् ज्ञान और दर्शन ये दो जुदे २ गुण नहीं हैं । इस कारण उन नैयायिकोंके आ-
त्माको जानेनेके अभावरूप दूषण प्राप्त होता है अर्थात् आत्माका ज्ञान न होनेरूप दोष
होता है, और जैनमतमें आत्मा ज्ञान गुणसे तो पर पदार्थको जानता है तथा दर्शन गुणसे
जलाको जानता है इस कारण जैनमतमें आत्माके जाननेका अभावरूप जो दूषण है वह
प्राप्त नहीं होता अर्थात् जैनमतमें आत्माका जानना सिद्ध ही है । यह दूषण क्यों नहीं होता
है यह पूछो तो उत्तर यह है कि; जैसे एक भी अग्नि वहन गुणसे जलाता है इस हेतुसे
दाहक कहलाता है, और पाचकरूप गुणसे पकाता है इस कारण पाचक कहलाता है । इस
प्रकार विषयके भेदसे दाहक-पाचकरूप दो प्रकार भेदको प्राप्त होता है अर्थात् एकही अग्नि
दाहक और पाचकभेदसे दो प्रकारका है । उसी प्रकार अभेदनयसे एकही चैतन्य भेदनयकी
विवक्षामें जब आत्माको ग्रहण करनेवाले रूपसे प्रवृत्त हुआ तब तो उसका 'दर्शन' यह
नाम हुआ और फिर जब पर पदार्थको ग्रहण करनेरूप प्रवृत्त हुआ तब उस चैतन्यका
'ज्ञान' यह नाम हुआ इस प्रकार विषयके भेदसे चैतन्य दो प्रकारसे भेदको प्राप्त होता
है अर्थात् एकही चैतन्य दर्शन और ज्ञानरूप भेदसे दो प्रकारका होता है । और विशेष
वाची यह है कि, यदि सामान्यके ग्रहण करनेवालेकी दर्शन और विशेषके ग्रहण करनेवाले-
की ज्ञान कहा जाये तो ज्ञानके प्रमाणताकी प्राप्ति नहीं होती है । ज्ञानके प्रमाणत्व क्यों
नहीं होता यह शंका करो तो समाधान यह है कि, जो वस्तुको ग्रहण करनेवाला है उसको
प्रमाण कहते हैं । और वस्तु सामान्य तथा विशेष इन दोनों स्वरूप है, और ज्ञानने व-
स्तुका एक देश जो विशेष है वह ही ग्रहण किया न कि संपूर्ण वस्तु और सिद्धान्तसे नि-
श्चयनयकी विवक्षामें गुण और गुणिके भेद नहीं है, इस कारण संशय, विमोह (अनध्य-
वसाय) और विभ्रम (विपर्यय) इन तीनोंसे रहित जो वस्तुका ज्ञान है उम ज्ञान स्वरूप
आत्माही प्रमाण है । क्योंकि, ज्ञान आत्माका गुण है और आत्मा ज्ञान गुणको धारण क-
रता है इसलिये गुणी है, गुण और गुणिके निश्चयसे अभेद है । और वह प्रमाण जैम म-

अज्ञात विषयः--सामान्यतया ज्ञानार्थी ज्ञानेन सादृ भेदो ज्ञापयतावदिदानीं यत्परमार्थ-
 ज्ञानस्य सत्यमर्थार्थं सत्यविषयस्य सत्यमर्थज्ञाने सत्योपपत्तिरिति न ज्ञायते । अस्मादिति चेत्-
 सत्यमर्थार्थं सत्यविषयस्य सत्यमर्थज्ञाने सत्योपपत्तिरिति न ज्ञायते । अत्र परिहारः ।
 सत्यमर्थज्ञानस्य सत्यविषयस्य सत्यमर्थज्ञाने सत्योपपत्तिरिति न ज्ञायते, तत्रैव सत्यमर्थज्ञाने सत्योपपत्तिरिति न ज्ञायते । अत्र परिहारः ।
 सत्यमर्थज्ञानस्य सत्यविषयस्य सत्यमर्थज्ञाने सत्योपपत्तिरिति न ज्ञायते, तत्रैव सत्यमर्थज्ञाने सत्योपपत्तिरिति न ज्ञायते । अत्र परिहारः ।
 सत्यमर्थज्ञानस्य सत्यविषयस्य सत्यमर्थज्ञाने सत्योपपत्तिरिति न ज्ञायते, तत्रैव सत्यमर्थज्ञाने सत्योपपत्तिरिति न ज्ञायते । अत्र परिहारः ।
 सत्यमर्थज्ञानस्य सत्यविषयस्य सत्यमर्थज्ञाने सत्योपपत्तिरिति न ज्ञायते, तत्रैव सत्यमर्थज्ञाने सत्योपपत्तिरिति न ज्ञायते । अत्र परिहारः ।
 सत्यमर्थज्ञानस्य सत्यविषयस्य सत्यमर्थज्ञाने सत्योपपत्तिरिति न ज्ञायते, तत्रैव सत्यमर्थज्ञाने सत्योपपत्तिरिति न ज्ञायते । अत्र परिहारः ।
 सत्यमर्थज्ञानस्य सत्यविषयस्य सत्यमर्थज्ञाने सत्योपपत्तिरिति न ज्ञायते, तत्रैव सत्यमर्थज्ञाने सत्योपपत्तिरिति न ज्ञायते । अत्र परिहारः ।

अब यहाँ सिद्ध करना है कि हे गुरु! सत्ताका अवलोकन करनेवाला जो
 दर्शन है उसका सो ज्ञानके साथ भेद जाना । अब “ जो सत्त्वार्थका श्रद्धानकरनेरूप
 सम्यग्दर्शन और पदार्थका विचार करने स्वरूप सम्यग्ज्ञान है ” इन दोनोंमें भेद नहीं
 जाना जाता । क्यों नहीं जाना जाता ? यह पूछें तो उत्तर यह है कि, जो पदार्थका
 निश्चय सम्यग्दर्शनमें है वही सम्यग्ज्ञान में है । इस लिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञा-
 नमें क्या भेद है अर्थात् कुछ भी नहीं । अब इस सिद्धि की शंकाका आचार्य समाधान करते
 हैं कि, पदार्थके ग्रहण करनेमें जाननेरूप जो लक्ष्योपपन्न विशेष है, वह ज्ञान कहलाता है ।
 और उक्त ज्ञानमें ही भेदनयसे जो बीनराग सर्वश्रु भीजिनेन्द्रद्वारा कहेहुए शुद्ध आत्मा
 आदि सत्त्व हैं उनमें यह ही सत्त्व है, ऐसा ही तत्त्व है, इस प्रकारका जो निश्चय है वह
 सम्यक्त्व है । और अभेदनयसे अर्थात् अभेदरूपसे तो जो ही सम्यग्ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन

है। ऐसा किस कारणसे है? यह पूछो तो उत्तर यह है कि, तत्त्व नहीं है उसमें बुद्धि करना, देव नहीं है उसमें देवकी बुद्धि करना और अधर्ममें धर्मकी बुद्धि त्वादि रूपसे जो विपरीत अभिनिवेश (उलटा आग्रह) है; उस विपरीताभिनिवेश जो ज्ञान है; उसीका जो सम्यग् इस विशेषणसे कहे जानेवाला अवस्थाविशेष है। म्यक्त्व कहलाता है। यही इस अर्थके करनेमें हेतु है।

यदि भेदो नास्ति तर्हि कथमावरणद्वयमिति चेत्—उत्तरोत्तरम्। येन क्षयोपशमः प्रच्छाद्यते तस्य ज्ञानावरणसंज्ञा, तस्यैव क्षयोपशमविशेषस्य यत् कर्म क्षणं विपरीताभिनिवेशमुत्पादयति तस्य मिथ्यात्वसंज्ञेति भेदनेनावरणभेदः। पुनरभेदविवक्षायां कर्मत्वं प्रत्यावरणद्वयमप्येकमेव विज्ञातव्यम्। एवं दर्शनपूर्वकं धीति व्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ ४४ ॥

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें भेद नहीं है तो आठ कर्मोंमें दर्शनावरण, जो नावरण ये दो आवरण कैसे कहे गये हैं यह शंका करो तो! यहां समाधानरूप उत्तर है कि, जिस कर्मसे पदार्थके जाननेरूप क्षयोपशम ढका जाता है; उसकी दो यह संज्ञा है। और उस ज्ञानावरणके क्षयोपशमविशेषके जो कर्म पहले कहे हुये जाते विपरीत अभिनिवेशको उत्पन्न करता है; उसकी मिथ्यात्व यह संज्ञा है। इस भेदनपक्षे आवरणका भेद है। और अभेदकी विवक्षामें कर्मत्वके प्रति जो दो आरा उन दोनोंको एकही जानना चाहिये। इस प्रकार दर्शन पहले हो लेता है तब ज्ञान है; ऐसे व्याख्यान करनेवाली जो गाथा है वह समाप्त हुई ॥ ४४ ॥

अथ सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकं रत्नत्रयारम्भकमोक्षमार्गद्वितीयावयवभूतं शशुद्धात्मानुभूतं शशुद्धोपयोग्यद्वयगतगीतगगचारिप्रत्यक्ष पारम्पर्येण साधकं सारागचारित्रं प्रतिपादयति।

अब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके पीछे होनेवाला रत्नत्रयस्वरूप जो मोक्षमार्ग है; शीलग अवयवस्वरूप और निवृत्त आत्माके अनुभवस्वरूप जो शुद्धोपयोग्य रत्नत्रय अर्थात्—वीरगगचारित्र है, उसको परंपरासे साधनेवाला जो सारागचारित्र है; उसका प्रतिपादन करने है।

गाथा। असुद्धादो विनिविस्ति सुहे पविस्ति य जाण पारिते।

वदममिदिगुलिम्वं यवहारणयादु जिणमणियम् ॥ ४५ ॥

शान्ताभावायः—जो अशुभ (दुर) कार्यमें दूर होना और शुभ कार्यमें दूरा होना वह ही शान्ता है उसको पारित जानना चाहिये। श्रीजिनन्द्रदेवने ध्वरहास्यमें इन चारिहो: ५, ३३ ५, सर्वज्ञ और ३ गुणित्व ५३३ है ॥ ४५ ॥

अथ रत्नत्रयं शशुद्धात्मानुभूतं शशुद्धोपयोग्यद्वयगतगीतगगचारिप्रत्यक्ष पारम्पर्येण साधकं सारागचारित्रं प्रतिपादयति।

तत्त्वादिममहृत्पुपशमक्षयोपशमभये सति, अध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरि-
या सति शुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारवालावमुपायमृतमुपादेयं कृत्वा संसारशरीरभोगेपु
न हेयबुद्धिः सम्यग्दर्शनशुद्धः स चतुर्थगुणस्थानवर्त्ती प्रतरहितो दर्शनिको भण्यते ।
मत्वाख्यानावरणसंश्लिष्टीयकपायक्षयोपशमे जाते सति पृथिव्यादिपञ्चस्थावरवधे
यथाशक्त्या प्रसवधे निवृत्तः स पञ्चमगुणस्थानवर्त्ती भावको भण्यते ।

व्याख्यार्थः—अब प्रथम ही इसी सरागचारित्रका अवयवरूप जो देशचारित्र है उ-
क्त कथन करते हैं । वह इस प्रकार है—मिथ्यात्व आदि सात ७ प्रकृतियोंका उपशम,
योपशम अथवा क्षय होनेपर अथवा अध्यात्मभाषाके अनुसार निज शुद्धआत्माके सन्मुख
रिमान होनेपर जो जीव शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न-विकाररहित-यथार्थ सुखरूपी
वृत्तको ग्रहण करने योग्य करके, संसार शरीर और भोगोंमें हेयबुद्धि है अर्थात् संसार,
शरीर और भोग ये सब त्यागने योग्य हैं ऐसा समझता है, और सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है।
इसको चतुर्थ गुणस्थानमें रहनेवाला प्रतरहित दर्शनिक कहते हैं । और जो मत्वाख्या-
नावरण नामक दूसरे क्रोधादिकषायोंका क्षयोपशम होनेपर पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और
नस्पति इन पांच स्थावरोंके वधमें प्रवृत्त हो तो भी अपनी शक्तिके अनुसार प्रसजीवोंके
पक्षे रहित होता है अर्थात् यथाशक्ति बेइन्द्रिय आदि प्रसजीवोंकी हिंसा नहीं करता है
इसको पंचम गुणस्थानवर्त्ती भावक कहते हैं ।

सत्त्वैकादशभेदाः कथ्यन्ते । तथाहि—सम्यक्त्वपूर्वकत्वेन मयमांसमधुव्यागोदुम्बरपञ्च-
कारिहाररूपाष्टमूलगुणसहितः सन् सङ्गामादिमृत्तोऽपि पापक्षणीदिभिर्निष्प्रयोजनजीवपा-
कादौ निवृत्तः प्रथमो दर्शनिकभावको भण्यते । स एव सर्वथा प्रसवधे निवृत्तः सन् पञ्चा-
गुणवगुणप्रवचयशिक्षाव्रतपतृष्टयसहितो द्वितीयमतिकसंशो भवति । स एव त्रिकालसामायिके
प्रवृत्तः तृतीयः, प्रोपधोपवासे प्रवृत्तचतुर्थः, सविचपरिहारेण पञ्चमः, दिवा प्रक्षयर्पेण षष्ठः,
सर्वथा प्रक्षयर्पेण सप्तमः, आरम्भादिसमस्तव्यापारनिवृत्तोऽष्टमः, वस्त्रप्रावरणं विहायान्य-
सर्वपरिग्रहनिवृत्तो नवमः, महव्यापारादिसर्वसावधानुमत्तनिवृत्तो दशमः, उरिष्टाहारनिवृत्त
एकादशम इति । एतेष्वैकादशभावकेषु मध्ये प्रथमपटूं तारतम्येन जपन्यम्, ततश्च ग्रंथं
मन्यमम्, ततो द्वयमुत्तममिति सङ्क्षेपेण दर्शनिकभावकाद्यैकादशभेदाः शास्तव्याः ॥

अब इस पंचम गुणस्थानवर्त्ती भावकके ग्यारह ११ भेदोंको कहते हैं । वे इस प्रकार
हैं—पहले सम्यग्दर्शनको धारण करके मय (मदिरा), मांस और सहत इन चीनोंके
और उदुम्बर आदि पांच फलोंके त्यागरूप जो आठ मूलगुण हैं उनसहित हुआ जो
जीव शुद्ध आदिमें प्रवृत्त होनेपर भी शिकार आदिते प्रयोजनके बिना जीवपात्र नहीं करता है
उसको पहला दर्शनिक भावक कहते हैं । और वही प्रथम दर्शनिक भावक जब प्रसजी-
वकी हिंसासे सर्वथा रहित होकर पांच अणुवन, तीन गुणवन और चार शिक्षावनोसे सहित
होता है तब दूसरा मतिक (मती) इस नामका धारक होता है । वही—जब त्रिकाल सामा-
यिकमें प्रवृत्त होता है तब तीसरी प्रतिमाका धारी होता है । प्रोपध उपवासमें प्रवृत्त होता

है तब चौथी प्रतिमाका धारी होता है । सचिचके त्यागसे पांचवीं प्रतिमाका धारक दिनमें ब्रह्मचर्य धारण करनेसे छठी प्रतिमावाला कहलाता है । सर्वथा रनेसे सप्तम प्रतिमाका धारी होता है । आरंभ आदि संपूर्ण व्यापारोंसे रहित होता है एम प्रतिमाका धारी कहा जाता है । वस्त्रके आच्छादनको छोड़कर अन्य सब परिश्रम होता है तब नवमी प्रतिमाका धारक होता है । ग्रहसंबंधी व्यापार आदि संपूर्ण सासहित) कार्योंमें जब संगति (सलाह) देनेसे रहित होता है तब दशमी प्रतिमा कहलाता है । अपने निमित्त क्रियेहुए आहारका त्याग करनेवाला ग्यारहवीं श्रावक कहा जाता है । इन प्रतिमाभेदसे ग्यारह प्रकारके श्रावकोंके बीचमें जो प्रतिमायें हैं उनमें रहनेवाले तारतम्य (हीनाधिकता) से जघन्य श्रावक सातवीं आठवीं और नवीं इन तीन प्रतिमाके धारक मध्यम श्रावक और ग्यारहवीं इन दो प्रतिमाओंके धारक उत्तम श्रावक हैं । इस प्रकार चारित्रिके दर्शनिक आदि ग्यारह भेद जानने चाहिये ।

अथैकदेशचारित्रव्याख्यानानन्तरं सकलचारित्रमुपदिशति । “अनुहादो विनिर्दिष्टं पवित्री य जाण चारित्रं” अशुभाभिपृत्तिः शुभे प्रवृत्तिश्चापि जानीहि चारित्रम् । तत्र स्मृतं—“यदसमिदिगुत्तिरुवं व्यवहारणयादु जिणमणियं” व्रतसमितिगुमित्तं चाज्जिनैरुक्कमिति । तथाहि—प्रयाख्यानावरणसंस्कृतृतीयकपायक्षयोपशमे सति “सिक्कं” कसामोगादोदुरसुदिदुषित्तुदुग्गोद्विजुदो । उग्गो उमग्गपरो उवओगो जरस सो भुरो । इति गायकपित्तलक्षणादशुभोपयोगान्निवृत्तिस्तद्विलक्षणे शुभोपयोगे प्रवृत्तिश्च हे ति रित्रं जानीहि । तथाचारापत्तादिचरणशास्त्रोक्तप्रकारेण रूपमप्यपह्नतसंयमाख्यं शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति । तत्र योऽमी विषयं पञ्चन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासद्गतव्यग्रहारेण, यश्चाप्यन्तरे चारित्र्यपरिहारः स पुनरशुद्धनिश्चयेनेति नयविभागी ज्ञातव्यः । एवं निश्चयचारित्रसापेक्षं चारित्रं व्याख्यातमिति ॥ ४५ ॥

८) अब हम एकदेशचारित्रके व्याख्यानके पश्चात् सकलचारित्रका उपदेश करते हैं। “सुसादो विनिविनि सुहे पविषी य जाण चारित्तं” हे शिष्य! अगुभसे निवि (गो-मत्ता) और गुभसे जो प्रवृत्ति है उसको चारित्र जानो। वह कैसा है “वदममिदुमिदं” वदहारणयाद् जिणभणियं” मत समिति और गुमि स्वरूप है; ऐसा व्याख्यान श्रीजिनेन्द्रने कहा है। गो ही दिखाने हैं—व्याख्यानावरण नामक तीसरे कथाका ही पद्यन होनेपर “त्रिमक्का-विषयो और कथायोंमें गादा, दुःशुनि (बुरा शायमदन) दुःविज्ज ओर दुष्ट गोष्टी (बुरी मंगलि) इनमें सहित, उग्र तथा उन्मार्गे (दुर मार्ग) के स्वरूप ऐसा उपयोग है वह जीव अगुभसे जिन है। १।” इस गाथामें कहेंदुर कथने पद्यक अगुभसेयोगमें सहितपना और उक्त अगुभोपयोगमें विवक्षण (उल्ला) से दूने

है उसमें प्रवृत्त होना जो है उसको हे शिष्य ! तुम चारित्र जानो। और वह चारित्र, भगवती आराधना आदि चरणानुयोगके शास्त्रोंमें कहेहुए प्रकारसे पांच महाव्रत, शंख समिति और तीन गुप्तिरूप है तो भी अपहृतसंयमनामक शुभोपयोगलक्षणका धारक, सरागचारित्र नामक चारित्र होताहै। उसमें जो बाह्यविषयोंमें पांचों इन्द्रियोंके विषय वगैरहका त्याग है वह तो उपचरित—असद्भूत—व्यवहारनयसे चारित्र है; और जो अन्तरंगमें शरा आदिका त्याग है वह अशुद्ध निश्चयनयसे चारित्र है; इस प्रकार नयोंका विभाग जानना चाहिये। ऐसे निश्चयचारित्रको साधनेवाला जो व्यवहारचारित्र है उसका व्याख्यान किया गया ॥ ४५ ॥

अथ तेनैव व्यवहारचारित्रेण साध्यं निश्चयचारित्रं निरूपयति ।

अब इसी पूर्वोक्त व्यवहारचारित्रसे सिद्ध होने योग्य जो निश्चयचारित्र है उसका निरूपण करते हैं ।

गाथा । बहिरन्मंतरकिरियारोहो भयकारणपणासद्वृत्तिः ।

णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥ ४६ ॥

गाथाभावार्थः—शरीर जीवके जो संसारके कारणोंको नष्ट करनेके लिये बाध और मंत्रांग कियाओका निरोध है; वह श्रीजिनेन्द्रसे कहाहुआ उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र है ॥ ४६ ॥

व्याख्या । “तं” सम् “परमं” परमोपेक्षालक्षणे निर्विकारस्वसंविख्यातकशुद्धोपयो-
गाविनाभूतं परमं “सम्मचारित्तं” सम्यक्चारित्रं ज्ञातव्यम् । तर्हि—“बहिरन्मंतर-
किरियारोहो” निष्पिण्यनित्यनिरञ्जनविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजात्मनः प्रतिपक्षभूतस्य
किरिषये शुभाशुभवचनकायव्यापाररूपस्य तथैवाभ्यन्तरे शुभाशुभमनोविकल्परूपस्य च
कथाव्यापारस्य योऽसौ निरोधस्त्यागः स च किमर्थं “भयकारणपणासद्वृत्तिः” पञ्चप्रकारभ-
गवतीनिर्दोषपरमात्मनो विलक्षणस्य भवस्य संसारस्य व्यापारकारणभूतो योऽसौ शुभाशु-
भकामाद्यवस्तुस्य प्रणाशार्थं विनाशार्थमिति । इत्युभयक्रियानिरोधलक्षणचारित्रं यस्य भवति ।
“णाणिस्स” निश्चयरत्नत्रयात्मकाभेदज्ञानिनः । पुनरपि किं विशिष्टं “जं जिणुत्तं” धम्मिनेन
वीनरागसर्वशोकोत्तमिति ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थः—“तं” वह “परमं” परम उपेक्षा (अनादर) स्वरूप लक्षणका धा-
रक, और विकाररहित निजसंवेदनरूप जो शुद्धोपयोग है उससे व्याप्त होनेमें उत्कृष्ट
“सम्मचारित्तं” सम्यक् चारित्र जानना चाहिये । वह क्या ? “बहिरन्मंतरकिरिदा-
रोहो” विचाररहित—नित्य—निरंजन और निर्मल ज्ञान तथा दर्शनरूप समावका धारक
जो अपना आत्मा है उससे प्रतिपक्षभूत (प्रतिकूल)—बाध विषयमें शुभ—अशुभ—वचन
कायके व्यापाररूप, और इसी प्रकार अन्तरंगमें शुभ—अशुभ—मनके विकल्परूप जो वि-
याका व्यापार है उसका जो निरोध अर्थात् त्याग है वह । वह त्याग किस लिये है ? “भ-
यकारणपणासद्वृत्तिः” पांच प्रकारके संसारसे रहित जो निर्दोष परमात्मा है उससे विना

गाथा । इविहं पि भुक्त्वहेतुं ज्ञाने पाऊणदि जं मुणी णियमा ।
तस्मा पयत्तचिच्छा जूयं ज्ञानं समन्भसह ॥ ४७ ॥

गाथाभारार्थः—मुनि ध्याने करनेमें जो नियमसे निश्चय और व्यवहार इन दोनों में मोक्षमार्गको प्राप्त है । इस कारणसे हे भग्यो तुम ! निश्चको एकामकरके ध्यानका नम करो ॥ ४७ ॥

व्याख्या । “इविहं पि भुक्त्वहेतुं ज्ञाने पाऊणदि जं मुणी णियमा” द्विविधमपि मोक्ष-
ध्यानेन प्राप्नोति धम्माम् मुनिनियमान् । तस्या —निश्चयरत्नत्रयात्मकं निश्चयमोक्षहेतुं
अपमोक्षमार्गं, तथैव व्यवहाररत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षहेतुं व्यवहारमोक्षमार्गं च ये
असापेक्षभावेन कथितवान् पूर्व तद्विविधमपि निर्विकारस्वसंविद्यारमकपरमध्यानेन मुनिः
तेति धम्मचारणान् “तस्मा पयत्तचिच्छा जूयं ज्ञानं समन्भसह” तस्मान् प्रयत्नचित्ताः
तो हे भग्या एवं ध्यानं सम्पन्नमसत । तथा हि तस्मात्कारणादृष्टभुक्तानुभूतनानामनो-
रूपसमन्तानुभानुभरगादिबिक्लृप्तजालं त्यक्त्वा परमस्वार्थसमुत्पन्नसहजानन्दैकलक्षण-
तत्त्वतत्साक्षादानुभवे स्थित्वा च ध्यानाभ्यासं कुरुत यूयमिति ॥ ४७ ॥

व्याख्यार्थः—“इविहं पि भुक्त्वहेतुं ज्ञाने पाऊणदि जं मुणी णियमा” जिससे
मुनि नियमसे ध्यान करके दोनों प्रकारसे मोक्षकारणोंको प्राप्त होता है । वे दोनों मो-
क्षकारण इस प्रकार हैं—निश्चयरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षकारण अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग
र इसी प्रकार व्यवहाररत्नत्रयरूप व्यवहारमोक्षहेतु अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग, इन दो-
नों पहले साध्यसाधकभावसे अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग साध्य (साधनेयोग्य) है और
व्यवहारमोक्षमार्ग साधक (निश्चयमोक्षमार्गका साधनेवाला) है इस रूपसे जो पहले कहा
उस दोनों प्रकारके मोक्षमार्गको मुनि जिस कारणसे विकाररहित-निजसंवेदनस्वरूप-
मध्यान्तरके प्राप्त होता है “तस्मा पयत्तचिच्छा जूयं ज्ञानं समन्भसह” इसी
रूपसे एकामचिच्छ होकर हे भग्यजनो ! तुम मले प्रकारसे ध्यानका अभ्यास करो—अर्थात्
वे ध्यानसे दोनों मोक्षमार्गोंको प्राप्त होते हैं इस कारणसे तुम देखा हुआ, सुना हुआ,
और अनुभव किया हुआ जो अनेक प्रकारके मनोरथरूप संपूर्ण शुभ-अशुभ-राग आदि
इत्थोंका समूह है उसका त्याग करके और परमनिजस्वरूपमें स्थित होनेसे उत्पन्न हुआ
। सहज आनन्दरूप एक लक्षणका धारक सुखरूपी अमृतरसके आस्वादका अनुभव है उ-
न्में स्थित होकर ध्यानका अभ्यास करो ॥ ४७ ॥

अथ ध्यातृपुरुषलक्षणं कथयति ।

अथ ध्यान करनेवाले पुरुषके लक्षणको कहते हैं ।

गाथा । मा भुज्झह मा रज्जह मा दूसह इद्वनिद्वअहेसु ।

धिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तज्ज्ञाणप्पसिद्धीए ॥ ४८ ॥

गाथाभारार्थः—हे भग्यजनो ! यदि तुम नाना प्रकारके ध्यान अथवा विकल्प रहित

गाथा । पणतीसमोऽसिद्धाणां चतुर्गमेन च जगद्भाष्यम् ।

परमेष्ठिवाचयाणां अणं च गुरुवर्णमेव ॥ ४९ ॥

गाथाभाष्यार्थः—यं परमेष्ठियोंको कहनेवाले जो पैंतीस, सोलह, छः पाँच, और एक अक्षररूप मन्त्रपद हैं उनका ज्ञाप्य करो और प्यान करो इनके विषय मन्त्रपद हैं उनको भी गुरुके उपदेशानुसार जो और प्यारो ॥ ४९ ॥

व्याख्या ।—“पणतीस” “जमो अरिहंतानं, जमो सिद्धानं, जमो आयरियानं, जसायाणं, जमो लोप सञ्चमाहूणं” एतानि पञ्चाशदक्षराणि संप्रदानि मन्त्रानि । अरिहंतं सिद्ध आचार्य उवज्ज्ञाय साहू एतानि षोडशाक्षराणि नामपदानि मन्त्रानि ‘अरिहन्तसिद्ध’ एतानि षडक्षराणि अर्हत्सिद्धयोर्नामपदे द्वे मन्त्रानि । “पण” “अ” सा एतानि पञ्चाक्षराणि आदिपदानि मन्त्रानि । “चतु” “अरिहंत” नामपदम् । “दुग” सिद्ध इत्यक्षरद्वयं सिद्धस्य नामपदम् । “एगं च” “अ” आदिपदम् । अथवा ‘ओं’ एकाक्षरं । रीरा आयरिया तह उवज्ज्ञाया मुणिगो । षडमस्वरनिष्पण्णो ईकतो पंच परमेष्ठो । गाथाकथितप्रथमाक्षराणां ‘समानः सवर्णं दीर्घामवर्ति’ ‘परञ्च लोपम्’ उवर्णं कं मिथविधानेन ओं शब्दो निष्पद्यते । कस्यादिति—“जगद्भाष्यम्” एतेषां पदानां पदेषु मध्ये सारभूतानां इहलोकपरलोकेष्टपद्यनामर्थं रूपेण वचनोच्चारणेन च आपं कुरुत । तथैव गुणोपयोगरूपत्रिगुणादव्यायां मौनेन पुनरपि कथम्भूतानां “परमेष्ठिवाचयाणं” “अरिहंतं” इति सुकोऽर्हद्वाच्योऽभिधेय इत्यादिरूपेण पञ्चपरमेष्ठिवाचकानां । “अणं च गुरुवर्णमे” द्विषादशसहस्रप्रमितपञ्चनमस्कारमन्त्रकथितक्रमेण छपुसिद्धपदं, दिवैवार्चनविधानं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकगुरुप्रसादेन ज्ञात्वा प्यंतव्यम् । इति स्वरूपं व्याख्यातम् ॥ ४९ ॥

व्याख्यार्थः—“पणतीस” “जमो अरिहंताणं १ जमो सिद्धाणं २ जमो आयरियाणं ३ जमो उवज्ज्ञायाणं ४ जमो लोपसञ्चसाहूणं ५ ये पैंतीस अक्षर ‘सर्वपद’ कहलाते हैं । “सोल” “अरिहंत सिद्ध आचार्य उवज्ज्ञाय साहू” ये सोलह अक्षर पंचपरमेष्ठियोंके नाम पद कहलाते हैं । “छ” “अरिहंतसिद्ध” ये छः अक्षर अर्हत् तथा सिद्ध इन दो परमेष्ठियोंके दो नाम पद कहे जाते हैं । “पण” “असिआउसा” ये पाँच अक्षर पंच परमेष्ठियोंके आदि पद कहलाते हैं । “चतु” “अरिहंत” ये चार अक्षर अर्हत् परमेष्ठीके नामपद रूप हैं । “दुग” “सिद्ध” ये दो अक्षर सिद्ध परमेष्ठीके नामपद रूप हैं । “एगं च” “अ” यह एक अक्षर अर्हत्परमेष्ठीका आदिपद है; अथवा ‘ओं’ यह एक अक्षर पाँचों परमेष्ठियोंके आदि पदस्वरूप है । ‘ओं’ यह परमेष्ठियोंके आदिपद रूप कैसे है ऐसा पूछो तो उत्तर यह है कि अरिहंतका प्रथम अक्षर ‘अ’ असरीर (सिद्ध) का प्रथम अक्षर ‘अ’ आचार्यका

अब इसके आगे राग आदि विकल्परूप उपाधिमे गतिन जो निवृत्ति-
पदार्थ है उसकी भावनासे उत्पन्न और गदानन्दस्वरूप एक लक्षणके धारक
रसके आस्वादसे तृप्तिस्वरूप ऐमा जो निश्चयध्यान है उमका परंपरासे द्रव्यनून जो
पयोगलक्षण व्यवहार ध्यान है उसके द्वारा ध्येय (ध्यान करने योग्य) मन्त्र
परमेष्ठी हैं उनके मध्यमेंसे प्रथम ही जो अर्हन् परमेष्ठी हैं उनके स्वरूपको कहे हैं
पहली पातनिका है। पूर्वगाथाओं कहे हुए जो सर्वपद नामपद आदि वाचकमूल
उनके वाच्य जो पंच परमेष्ठी हैं उनका व्याख्यान करनेपर प्रथम ही श्रीत्रिनेत्रके
को निरूपण करता है यह दूसरी पातनिका है। अथवा पदम्, विंध्यम् ७। ११।
तीन ध्यानोके ध्येयमूल जो श्री अर्हन् सर्वज्ञ हैं उनके स्वरूपको दिसाना है यह
पातनिका है। इस प्रकार इन पूर्वोक्त तीनों पातनिकाओंको मनमें धारण करके
चक्रवर्ती भगवान् श्रीनेमिचन्द्रस्वामी इस अग्रिम गायामूत्रका प्रतिपादन करते हैं ॥

गाथाः—गढचदुघाङ्कम्भो दंसणसुहणणवीरियमईओ।

सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिन्तिज्जो ॥ ५० ॥

गाथाभाचार्यः—चार धातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाला, अनन्त दर्शन, मुक्ति,
और वीर्यका धारक, उत्तम देहमें विराजमान और शुद्ध ऐसा जो आत्मा है वह
उसका ध्यान करना चाहिये ॥ ५० ॥

व्याख्या । " गढचदुघाङ्कम्भो " निश्चयरत्नत्रयस्वरूपशुद्धोपयोगध्यानेन पूर्व
कर्ममुख्यभूतमोहनीयस्य विनाशनाशतदनन्तरं ज्ञानदर्शनावरणान्तरायसंज्ञयुगपद्विनिर्मुक्तौ
नाशकत्वाच्च प्रणष्टचतुर्धातिकर्मा । " दंसणसुहणणवीरियमईओ " तेनैव वि-
लब्धानन्तचतुष्टयत्वान् सहजशुद्धाविनश्वरदर्शनज्ञानसुखवीर्यमयः । " सुहदेहत्थो " निश्चये
नाशरीरोऽपि व्यवहारेण सप्तपातुरहितदिवाकरसहस्रभामुरपरमौदारिकशरीरत्वान् शुभरे
हत्थः । " सुद्धो " क्षुधा तृप्ता भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् । जरा हता
मृत्युश्च खेदः खेदो मदोऽरतिः । १ । विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृताः । एतैर्दो-
र्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ॥ २ ॥ " इति श्लोकद्वयकथिताष्टादशदोषरहितत्वान्
शुद्धः । " अप्पा " एवं गुणविशिष्ट आत्मा । " अरिहो " अरिसत्त्ववाच्यमोहनीयस्य, रज-
शब्दवाच्यज्ञानदर्शनावरणद्वयस्य, रहस्यशब्दवाच्यान्तरा यस्य च हननाद्विनाशात्मकज्ञान-
इन्द्रादिविनिर्मितां गर्भावतरणजन्माभिपेकनिःक्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणामिधानपञ्चतर-
कल्याणरूपां पूजामईनि योग्यो भवति तेन कारणेन अर्हन् भण्यते । " विचिन्तिज्जो " वि-
इत्युक्तविशेषणैर्विशिष्टमाप्तागमप्रभृतिग्रन्थकथितवीतरागसर्वज्ञाद्यष्टोत्तरसहस्रनामानमईनि वि-
नमद्वारकं पदस्यपिद्वयस्वरूपध्याने स्थित्वा विशेषेण चिन्तयत ध्यायत है भव्या यूपमिति ।

व्याख्यानार्थः—" गढचदुघाङ्कम्भो " निश्चयरत्नत्रयस्वरूप जो शुद्धोपयोगरूप
ध्यान है उसके द्वारा पहले धातियाकर्मोंमें प्रधान जो मोहनीयकर्म है उसका नाश करने

पक्षको करता है कि, सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि, उसका प्रत्यक्ष अथवा प्राप्ति नदी गंधेके सींगके समान । इस शंकाका उत्तर यह है—तुम जो सर्वज्ञकी अप्राप्ति इसमें हम पूछते हैं कि, सर्वज्ञकी प्राप्ति इस देश और इस कालमें नहीं है देशों और सब कालोंमें सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है ? यदि कहो कि, इस देश और इस सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है तब तो तुम्हारा कहना ठीक है, क्योंकि, हम भी ऐसा यदि तुम कहो कि, सब देशों और सब कालोंमें सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है । तो हम कि, तुमने यह कैसे जाना कि, अथो, ऊर्द्ध और मध्य भेदसे तीनों लोक तथा और वर्तमान ये तीनों काल सर्वज्ञ करके रहित हैं ? यदि तुम यह कहो कि, हमने कि, तीनों लोक और तीनों काल सर्वज्ञ रहित हैं तब तो तुम ही सर्वज्ञ सिद्ध हो चुके भावार्थ—जो तीन लोक तथा तीन कालके पदार्थोंको जानता है वही सर्वज्ञ है, सो यह जान ही लिया कि, तीनों लोक और तीनों कालोंमें सर्वज्ञ नहीं है । इस निम्ने सर्वज्ञ ठहरे । और जो तुमने 'तीन लोक व कालमें सर्वज्ञ नहीं' इसको नहीं जाना है, फिर 'सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा निषेध कैसे करते हो । यहांपर दृष्टान्त यह है कि, कोई निषेध करनेवाला पुरुष घटका आधारभूत जो मूल (जमीन) है उसको घटरहित जान लेता है तब कहता है कि, हम 'मूलमें घट नहीं है' सो यह तो उसका ठीक है । परंतु जो नेत्रोंसे रहित है, वह जो 'हम मूलमें घट नहीं है' ऐसा मचन कहे तो ठीक नहीं । इसी प्रकार जो तीन जगत् और तीन कालको सर्वज्ञ नहीं जानता है वह जो "तीन जगत् तथा तीन कालमें सर्वज्ञ नहीं है" यह कहे तो कहना ठीक है । परंतु जो 'तीन लोक व तीन कालको सर्वज्ञरहित नहीं जानता' वह सर्वज्ञका निषेध किसी प्रकारसे भी नहीं कर सकता है । क्यों नहीं कर सकता । क्यों सो उक्त यह है कि, तीन जगत् और तीन कालको जाननेसे यह आप ही सांग है अर्थात् जब यह आप ही सर्वज्ञ है तब सर्वज्ञ नहीं है ऐसा कैसे कह सकता है ॥

अथोक्तमनुपलब्धिरिति हेतुवचनं सदप्ययुक्तम् । कस्मादिति चेत्—किं भवत्यनुपलब्धिः, किं जगत्प्रकाशप्रवर्तिपुरुषाणां वा ? यदि भवत्यामनुपलब्धिः साक्षात् न निश्चयित, भवत्यनुपलब्ध्यमानानां परकीयवित्तवृत्तिपरमाण्वादिसूक्ष्मपदार्थानामिव । जगत्प्रकाशप्रवर्तिपुरुषाणामनुपलब्धिस्तत्कथं ज्ञातं भवति । ज्ञानं चेत्तर्हि भवान् सर्वज्ञ इति पूर्वमेव भगिनं निश्चिनति । इत्यादिहेतुद्वयं शास्त्रेणम् । यथोक्तं परमेश्वरस्य हेतुद्वयवचनं सदप्यनुचितम् । परं विद्यां नाम्नि गवादीं निश्चिनोपयन्नाभासो न भवति तया सर्वज्ञत्वादि निषेधेन साक्षात्तद्विषयभावेऽपि सर्वथा नास्ति न भवति इति दृष्टान्तस्तु गच्छ ।

अथ जो 'सर्वज्ञ नहीं है' हम जानाको सिद्ध करनेके लिये 'सर्वज्ञकी प्राप्ति नहीं है' यह हेतु वचन कहा है वह भी अनुचित (ठीक नहीं) है । क्यों अनुचित है । हेतु

अब हमें जो हम अपने हैं कि, क्या सर्वज्ञ की प्राप्ति तुम्हारे नहीं है या क्या तीन लोकों में हमें सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है? यदि तुम लोगोंको सर्वज्ञ प्राप्त होने है तो हमें सर्वज्ञता जगत् सिद्ध नहीं होना । क्योंकि, जैसे अन्य पुरुषोंके अपने विषय में, अस्मात् आदि मूल्य पदार्थ तुम्हारे ज्ञानमें नहीं आते हैं, तो भी कि है सर्वज्ञ तुम्हारे ज्ञानमें नहीं है । इसी प्रकार तुम्हारे ज्ञानमें नहीं आया हुआ सर्वज्ञ को है तुम्हारे ज्ञानमें जगत् नहीं । अब कहाचिन् यह कहो कि, तीन जगत् और तीन लोकोंके पुरुषोंकी ही सर्वज्ञता जगत् है; तो हम पूछते हैं कि, क्या तुमने यह जगत् लिया? तो जगत् लिया है अब तो 'तुम्हारी सर्वज्ञता' यह जो हमने पहले कहा है वही यहाँ कहना । इसदि अनेक दृष्टान्त हम 'अप्राप्ति' रूप देनेमें जानने चाहिये । और जो तुम्हें 'सर्वज्ञ' नहीं है क्योंकि, तुम्हारी प्राप्ति नहीं होती 'इसको सिद्ध करनेके लिये सर्वज्ञता कीजके समान यह दृष्टान्तवचन कहा वह भी उचित नहीं है । क्योंकि, जैसे शींग (शेप) के शींग नहीं है परन्तु शींग आदिके शींग हैं इस लिये शींगका अत्यन्त अभाव नहीं है । इसी प्रकार यद्यपि सर्वज्ञता नियत किमी (कायम किये हुए) देश का जगत् आदिमें अभाव है सोभी उस सर्वज्ञता सर्वथा अभाव नहीं हो सकता है, इस प्रकार दृष्टान्तमें दृष्टान्त दिखाया गया ॥

अब मन्त्र-सर्वज्ञविषये बाधकप्रमाण निगद्यन् भवद्विषयि सर्वज्ञमज्ञानसाधकं प्रमाणं हि । इति दृष्टे प्राप्तात्माद-कश्चित् पुरुषो धर्मी, सर्वज्ञो भवतीति साध्यते धर्मः, एवं धर्मधर्ममनुदायने पक्षवचनम् । कस्यादिति चेत् पूर्वोक्तप्रकारेण बाधकप्रमाणभावादिति हेतुवचनम् । किन्तु अस्मत्समुभूयमानसुखदुःखादिवर्तिनि दृष्टान्तवचनम् । एवं सर्वज्ञमज्ञाने फलदृष्टान्तरूपेण द्रव्यमनुमानं विधेयम् । अथवा द्वितीयमनुमानं कथ्यते-रामरावणा-रक्षकाद्यन्तरिक्षा, मेधादयो देवास्तृतिता, भूतादयः स्वभावान्तरिक्षा, परचेत्तोदृतयः समाख्यादयश्च गुरुमपदार्था, धर्मिणः कस्यापि पुरुषविशेषस्य प्रत्यक्षा भवन्तीति साध्यो धर्म इति धर्मधर्ममनुदायने पक्षवचनम् । कस्यादिति चेत्-अनुमानविषयत्वादिति हेतुवचनम् । किन्तु यद्यनुमानविषयं तत्तन् कस्यापि प्रत्यक्षं भवति, यथादयादि, इत्यन्वयदृष्टान्तवचनम् । अनुमानेन विषयाश्रेति, इत्युपनयवचनम् । तस्यान् कस्यापि प्रत्यक्षा भवन्तीति निगमनवचनम् ।

अब कहाचिन् बादी यह पूछे कि, आपने सर्वज्ञके विषयमें जो बाधकप्रमाण था उसका तो खंडन कर दिया परन्तु सर्वज्ञके सिद्धांतको अर्थात् सर्वज्ञ है इस कथनको सिद्ध करने का प्रमाण क्या है तो कहो । हम पर उत्तर देते हैं कि, कोई पुरुषविशेष धर्मी सर्वज्ञ है, इस रीतिमें किमी पुरुषविशेषको पक्ष करके हमें सर्वज्ञत्व धर्म सिद्ध करते हैं । 'कश्चित् पुरुषो धर्मी सर्वज्ञो भवति' इस प्रकारके हमारे वाक्यमें धर्मी और धर्मके समुदायरूपसे जो पक्षवचन अर्थात् पक्षमें साध्यका निर्देश है यह प्रतिज्ञा है । क्योंकि-सर्वज्ञके होनेमें जो पक्षवचन अर्थात् पक्षमें साध्यका निर्देश है यह प्रतिज्ञा है । 'तदस्ति त्वे बाधकप्रमाणभावात्' यह

हमारा हेतुका कथन है। किसके समान? अपने अनुभवमें आते हुए सुख दुःख आदि (स्वयमनुभूयमानसुखदुःखादिवत्) यह दृष्टान्तका कथन है। इस प्रकार सर्वज्ञ (होने) में पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त रूपसे तीन अंगका धारक अनुमान जानना चाहिये। अथवा सर्वज्ञके सद्भावका साधक दूसरा अनुमान कहते हैं। राम और रावण आदि काले दूर या दूरे हुए पदार्थ, मेरु आदि देशसे अन्तरित पदार्थ, भूत आदि अपने स्वभावसे दूरे हुए पदार्थ, तथा पर पुरुषोंके चित्तोंके विकल्प और परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ धर्मी हैं। 'किसी भी पुरुष विशेषके प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं' यह उन राम धर्मियोंमें सिद्ध करनेयोग्य धर्म है; इस प्रकार धर्मी और धर्मके समुदायसे पक्षपचन प्रतिज्ञा है। राम रावणादिक किसीके प्रत्यक्ष क्यों हैं? ऐसी शंकाको दूर करनेके 'अनुमानके विषय होनेसे' यह हेतु वचन है। किसके समान? 'जो जो अनुमानका है वह वह किसीके प्रत्यक्ष होता है जैसे, अग्नि आदि' यह अन्य दृष्टान्तका है। और 'देश काल आदिसे अन्तरित पदार्थ भी अनुमानके विषय हैं' यह वचन है। इस लिये "राम रावण आदि किसीके प्रत्यक्ष होते हैं" यह निगमन

इदानीं व्यतिरेकदृष्टान्तः कथ्यते—यत्र कस्यापि प्रत्यक्षं तदनुमानविषयमपि न यथा खपुष्पादि, इति व्यतिरेकदृष्टान्तवचनम्। अनुमानविषयाश्चेति पुनरप्युपपन्नवचनम्। सम्मात् प्रत्यक्षा भवन्तीति पुनरपि निगमनवचनमिति। किन्त्वनुमानविषयत्वादित्यत्र हेतुः सर्वज्ञस्वरूपे साध्ये सर्वप्रकारेण सम्भवति यतस्ततः कारणात्स्वरूपासिद्धभावादिभिः पणायसिद्धो न भवति। तथैव सर्वज्ञस्वरूपं स्वपक्षे विहाय सर्वज्ञाऽभावं विषयं न साधयति तेन कारणेन विरुद्धो न भवति। तथैव च यथा सर्वज्ञसद्भावे स्वपक्षे वर्तते तथा सर्वज्ञ भावेऽपि विषयैऽपि न वर्तते तेन कारणेनाऽनैकान्तिको न भवति। अनैकान्तिकः कोऽयं व्यभिचारीति। तथैव प्रत्यक्षादिप्रमाणवाधितो न भवति। तथैव च प्रतिवादिना प्रसिद्धिः सर्वज्ञसद्भावं साधयति तेन कारणेनाकिञ्चित्करोऽपि न भवति। एवमसिद्धिविरुद्धानैकान्तिकानि काश्चित्करहेतुदोषरहितत्वात्सर्वज्ञसद्भावं साधयत्येव। इत्युक्तप्रकारेण सर्वज्ञसद्भावे पक्ष हेतुदृष्टान्तोपपन्ननिगमनरूपेण पञ्चाङ्गमनुमानं ज्ञातव्यमिति।

अब व्यतिरेक दृष्टान्तको कहते हैं—'जो किसीके भी प्रत्यक्ष नहीं होते वे अनुमानके विषय भी नहीं होते,' जैसे कि, 'आकाशके पुष्प आदि' यह व्यतिरेक दृष्टान्तका वचन है। और 'राम रावण आदि अनुमानके विषय हैं' यह फिर उपपन्नका वचन है। इस लिये 'राम रावणादि किसीके प्रत्यक्ष होते हैं' यह फिर निगमन वाक्य है। और 'राम रावणादि किसीके प्रत्यक्ष होते हैं अनुमानके विषय होनेसे' महापर 'अनुमानके विषय होनेमें' यह जो हेतु है वह सर्वज्ञरूप जो साध्य धर्म है उसमें सर्व प्रकारसे प्रमाण है। इस कारण यह उक्त हेतु स्वरूपासिद्ध भावादि तथ्या विनोपपन्न आदिसे अभिन्न नहीं है। तथा उक्त हेतु—सर्वज्ञरूप जो अपना पक्ष है उगच्छे छोड़कर सर्वज्ञका अभिन्नवचन

जो विषय है उसको सिद्ध नहीं करता है; इस कारण विरुद्ध भी नहीं है । और जैसे, 'सर्वज्ञके सद्भावस्वरूप अपने पक्षमें रहता है' वैसे सर्वज्ञके जभावस्वरूप विषयमें नहीं रहता है; इस कारण उक्त हेतु अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी भी नहीं है । और मत्पक्ष आदि प्रमाणोंसे साधित नहीं है; इस लिये कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है । तथा सर्वज्ञको न माननेवाले जो भट्ट और चार्वाक हैं, उनके सर्वज्ञके सद्भावको सिद्ध करता है इस कारण अकिञ्चित्कर भी नहीं है । इस प्रकारसे 'अनुमानका विषय होनेसे' यह हेतु यचन है सो; अगिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अकिञ्चित्करूप जो हेतुके दूषण है उनसे रहित है; इस कारण सर्वज्ञके सद्भावको सिद्ध करता ही है । इस उक्त प्रकारसे सर्वज्ञके सद्भावमें पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन रूपसे पांच अंगोंका धारक अनुमान जानना चाहिये ॥

किं च यथा लोचनहीनपुरुषस्यादर्शो विद्यमानेऽपि प्रतिविम्बानां परिज्ञानं न भवति, तथा लोचनस्थानीयसर्वज्ञतागुणरहितपुरुषस्यादर्शस्थानीयवेदशास्त्रे कथितानां प्रतिविम्ब-स्थानीयपरमाण्वाद्यनन्तसूक्ष्मपदार्थानां कपि काले परिज्ञानं न भवति । तथाप्युक्तं " यस्य शान्तिं ह्ययं प्रज्ञा शान्तं तस्य करोति किम् । लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥ १ ॥ " इति संक्षेपेण सर्वज्ञसिद्धिरत्र बोद्धव्या । एवं पदस्थपिण्डस्वरूपस्थाने ध्येयभूतस्य सकलआत्मनो जिनभट्टारकस्य व्याख्यानरूपेण गाथा गता ।

और जैसे नेत्रहीन पुरुषको दर्पण (शीसे) के विद्यमान होनेपर भी प्रतिविम्बोंका ज्ञान नहीं होता है, इसीप्रकार नेत्रोंके स्थानभूत जो सर्वज्ञत्वरूप गुण है उससे रहित पुरुषको दर्पणके स्थानभूत जो वेदशास्त्र है उसमें कहेहुए जो प्रतिविम्बोंके स्थानभूत परमाणु आदि अनन्त सूक्ष्म पदार्थ हैं उनका किसी भी कालमें ज्ञान नहीं होता है । सो ही कहा है कि—“जिस पुरुषके स्वयंबुद्धि नहीं है उसका ज्ञात कया उपकार कर सकता है । क्योंकि नेत्रोंसे रहित पुरुषके दर्पण क्या उपकार करेगा. भावार्थ—जैसे नेत्रहीन पुरुषको दर्पणसे कुछ लाभ नहीं इसी प्रकार बुद्धिहीन पुरुषको ज्ञानसे कोई लाभ नहीं है । १ । इस प्रकार यहां संक्षेपसे सर्वज्ञकी सिद्धि जानना चाहिये । ऐसे पदस्थ, पिण्डस्थ और रूपस्थ इन तीनों ध्यानोमें ध्येयभूत (ध्यान करने योग्य) जो सकल आत्माके धारक थी जिनेन्द्र भट्टारक हैं; उनके व्याख्यानरूपसे यह गाथा समाप्त हुई ॥ ५० ॥

अथ सिद्धसदृशनिजपरमात्मतत्त्वपरमसमरसीभावलक्षणस्य रूपातीतनिश्चयध्यानस्य पारम्पर्येण कारणभूतं मुक्तिगतसिद्धभक्तिरूपं 'जमोसिद्धाणं' इति पदोच्चारणलक्षणं यत्पदस्थं ध्यानं तस्य ध्येयभूतं सिद्धपरमेष्ठिस्वरूपं कथयति ।

अथ सिद्धोंके समान जो परमात्मस्वरूप है; उसमें परमसमरसीभावको धारण करनेरूप जो रूपातीत नामक निश्चय ध्यान है, उस रूपातीत ध्यानके परंपरासे कारणभूत-मुक्तिमें प्राप्त हुए जो सिद्ध परमेष्ठी हैं; उनकी भक्तिरूप—“जमोसिद्धाणं” इस पदके बोलनेरूप

लक्षणका धारक जो पदस्यध्यान है, उस पदस्यध्यानके ध्येयभूत जो सिद्धपानेही हैं उनके स्वरूपका कथन करते हैं ।

गाथा:—णट्टकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दहा ।

पुरिसायारो अप्पा सिद्धो ज्ञाएह लोयसिद्धत्यो ॥ ५१ ॥

गाथाभावार्थः—नष्ट होगया है अष्टकर्मरूप देह जिसके, लोकाकाश तथा बने-कादाका जानने देखनेवाला, पुरुषके आकारका धारक—और लोकके शिखरपर विराजमान ऐसा जो आत्मा है वह सिद्ध परमेष्ठी है इसकारण तुम उसका ध्यान करो ॥ ५१ ॥

एसा जो आत्मा है यह सिद्ध परमेश्वर है इसकारण तुम उसकी ध्यान करो ।
इत्याह्वय । 'जट्टट्टकम्मदेहो' शुभाशुभमनोवचनकायक्रियारूपस्य द्वैतशब्दाभिराहर्-
काण्डस्य निर्मूलनसमयेन स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नरागादिष्विकल्पोपधिरहितपरमा-
दैकलक्षणसुन्दरमतोहरानन्दस्यदिनिःक्रियाद्वैतशब्दवाच्येन परमज्ञानकाण्डेन विनाशित-
धरणागष्टकर्मोद्धारिकादिपञ्चदेहत्वात् नष्टाष्टकर्मदेहः । 'लोयालोयस्त जागभो ददु' पूर्-
वज्ञानकाण्डभावनाफलभूतेन सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयेन लोहालोहगतप्रिवाङ्मन-
समन्वितसुसम्बन्धिविशेषसामान्यस्यभावानामेकसमयशायकदर्शकत्वात् लोहालोहत्वं त-
दृष्टा भवति । 'पुरिसायागो' निश्चयनयेनातीन्द्रियामूर्त्तपरमाधिबुच्छलननिर्माणशुद्धपर-
निराकारोऽपि व्यवहारेण भूतपूर्वनयेन किञ्चिद्भूतपरमशरीराकारेण गतसिन्धुमूषागम-
रव्यज्ञायाप्रतिमावद्वा पुरवाकारः । 'अप्पा' इत्युक्तलक्षण आत्मा किं भवत्ये 'सिद्धो' भवत्ये
गिद्धशानुकागिद्धगुटिकासिद्धगङ्गासिद्धमायासिद्धादिलौकिकमिद्धविलक्षणः केवलज्ञान-
गम्यगुणव्यक्तिरक्षणः सिद्धो भण्यते । 'इसाणह सोयसिहहरथो' तन्निष्कृष्टं गिद्धाये
विनं शोकशिवरूपं दृष्टशानुभूतपञ्चेन्द्रियभोगप्रभृतिसमन्वितनोरुत्तरूपतानागिद्धज्ञान-
त्वागेन त्रिगुणिरक्षणरूपातीतध्याने स्थित्वा ध्यायत दे भवत्या ययमिति ॥५१॥ एवं निश्चय-
गिद्धपरमेष्ठिन्याध्यानेन गाथा गता ॥

गिरुपरमप्रियाख्यानेन गाथा गता ॥

व्याख्यानार्थः—‘णट्टकम्मदेशो’ शुभ-अशुभ-मन वचन और कामकी दियवा, ट्रेन इग शब्दने करे जाने योग्य जो कमोंका कांड (गमूद) दे उगका नाम करेरे सम्बंध, नित्रगुद्ध-अत्मस्वरूपकी भावनामे उत्पन्न रागादिविकल्पस्वरूप उपाधिमे रहित, एवं छानंदमय एक लक्षणका धारक-, गुन्दर और मनको हरण करनेवाला ऐसा जो भगवत् उमको कहनेवाला, दियाराहित और अर्द्धन इग शब्दमे करे जानेवाला ऐसा जो कामद्वय काण्ड, उमदे ट्रेग नामको प्राप्त दिये हैं मानावरणादि आठ कमोंका औरारिक भक्ति का देह (शरीर) त्रिमने ऐसा होनेमे नष्ट दिया है अष्टकमोंका देह त्रिमने ऐसा । श्री साक्षीयम्मा नामकी ट्रेगा पदमे करेदुष्ट जानकाइकी भावनाका कटकर जो गरी भेजेने त्रिमने-अन और दर्शनका युगल है उमके ट्रेग लोक तथा अयोधमे प्राप्त जो भूत बलि पदमे और बटुभक्त-द्वारे रहनेकाई समझ पड़ाव है उन पदायांग मारा त्रिमने देह विद्वत् नर भक्त-व्य भाव है उनका एक ही समझम जानने और दानर-का होनेमे देह

तथा अलोकका जानने देखनेवाला होता है । 'पुरस्तापारी' निश्चयनयकी अवेशमे इन्द्रियोंके अगोचर-मूर्तिरहित-परमज्ञानके उल्लङ्घनेसे मरा हुआ ऐसा जो शुद्ध समाव है उसका धारक होनेसे आकाररहित है; तो भी व्यवहारसे भूतपूर्वनयकी अवेशमे अंतिम शरीरसे कुछ न्यून (कम) आकारको धारण करता है इस कारण मोररहित मूँके बी-बड़े आकारकी तरह अथवा छायाके प्रतिबिम्बके समान पुण्यके आकारको धारण करने-वाला है । "अप्पा" इन पहले कहे हुये लक्षणोंका धारक जो आत्मा है वह क्या कह-लाना है 'मिद्धो' अंजनमिद्ध, पादुकामिद्ध, गुटिकामिद्ध, रात्रिमिद्ध और मायामिद्ध आदि जो लौकिक (लोकमें कहे जानेवाले) मिद्ध हैं उन सिद्धोंमें भिन्न लक्षणका धारक-कथन गान आदि अनंतगुणोंकी प्रकटता रूप लक्षणका धारक मिद्ध कहलाना है । 'उन्नाप्ह लो-रसिहररथो' लोकके गिरतरपर विराजमान उस इन पूर्वोक्तलक्षणके धारक मिद्ध परमेष्टीकी प्रव्यवजनों । तुम देखे-सुने-अनुभव किये हुए जो पांचों इन्द्रियोंके भागोंको आदिने अपूर्ण मनोरथोरूप अनेक विषयोंका समूह उसका स्वाग करिके और मन, वचन तथा हाथ इन तीनोंकी गुप्ति व्यक्त्य जो ग्यानीन ध्यान में उसमें स्थित होकर ध्याये ॥ ५१ ॥ इस प्रकार निष्कल (शरीररहित) मिद्ध परमेष्टीके व्याख्यान द्वारा यह गाथा समाप्त हुई ।

अथ निरुपाधिगुडात्मभावानुभूत्यविनाभूतनिश्चयपञ्चापाङ्गलक्षणस्य निश्चयध्यानस्य परस्परया कारणभूतं निश्चयव्यवहारपञ्चापाङ्गपरिणतापार्थभक्तिरूपं 'जमो आपरिमाणं' इति परोक्षारणलक्षणं व्यपदकध्याने तस्य ध्येयभूततापार्थपरमेश्वरिणं कथयति ।

अथ उपाधिरहित जो शुद्ध आत्माकी गाथना तथा अनुभूति (अनुभव) का साध-स्कार है उसमें ज्ञातिकी धारण करनेवाला जो निश्चय नयानुसार पांच प्रकारका आचार-वही है लक्षण त्रिमका ऐसा जो निश्चयध्यान उम निश्चयध्यानका परिणामे प्राप्तभूत, निश्चय तथा व्यवहार इन दोनों प्रकारके पांच आचारोंमें परिणत (सत्ता या लक्षण) ऐसे जो आचार्य परमेष्टी उनकी भक्तिरूप और "जमो आपरिमाणं" इस परदे उपाध-रण करने (बोधने) रूप लक्षणका धारक ऐसा जो परमेश्वरान है उम परमेश्वरानके ध्येयभूत जो आचार्य परमेष्टी है उनके स्वरूपका निरूपण करते हैं ।

गाथा १—दंमणणाणपदाणे धीरियचारित्तवरत्तमापारे ।

अप्यं परं च जुंजह मो आपरिओ गुणी उरोओ ॥ ५२ ॥

गाथाभाषार्थः—दर्शनाचार १ ज्ञानाचार २ धीर्याचार ३ चारित्र्याचार ४ और लक्षण-णाचार ५ इन पांचों आचारोंमें जो आप भी सत्तर होने हैं और अन्दिष्टियोंकी भी लक्षणें हैं ऐसे आचार्यगुणि ध्यान करने योग्य हैं ॥ ५३ ॥

'दंमणणाणपदाणे धीरियचारित्तवरत्तमापारे' सम्मर्षदर्शनज्ञानस्थाने धीरचारित्तवरत्त-पधरणाचारोऽधिकरणभूते 'अप्यं परं च जुंजह' आत्मानं पर शिष्यजनं च बोधते ।

योजयति सम्यग्धं करोति 'मो आयरिओ गुणी ज्ञेओ' म उक्तलक्षण आचार्यो मुनिमतेने
ध्येयो भवति । तथा हि—भूतार्थनयविषयभूतः शुद्धममयमागृह्यवाच्यो भावकर्मद्रव्य-
नोकर्मादिसमस्तपरद्रव्येभ्यो भिन्नः परमचेतन्यविलामलक्षणः मृगुद्धानैवोपादेय इति
रुचिरूपसम्यग्दर्शनं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयदर्शनाचारः ॥ तस्मैव शुद्धान्तो निरन्तरं
स्वसम्बेदनलक्षणभेदज्ञानेन मिथ्यात्वरगादिपरभावैर्भ्यः पृथक्परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानं, तत्र
चरणं परिणमनं निश्चयज्ञानाचारः । तत्रैव रागादिविकल्पोपाधिहितक्षामाविष्णुनात्मा
वेन निश्चलचित्तं धीतरागचारित्रं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयचारित्राचारः । समस्तपद-
च्छानिरोधेन तथैवानुशानादिद्वादशतपश्चरणवहिरङ्गसहकारिकारणेन च स्वस्वरूपे पतनवि-
यनं निश्चयतपश्चरणं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयतपश्चरणाचारः । तस्मैव निश्चयचतुर्विंशत-
रक्षणार्थं स्वशक्त्यनयगृह्णन् निश्चयवीर्याचारः । इत्युक्तलक्षणनिश्चयपञ्चाचारं तथैव "छली-
सगुणसमग्रे पंचविहाचारकरणसन्दर्शिसे । मिस्मानुगमहकुमले धर्मायारिपसदा वेद ॥ १ ॥"
इति गाथाफथितक्रमेणाचाराशयनादिचरणशास्त्रविस्तीर्णवहिरङ्गसहकारिकारणभूते व्यपशत
पञ्चाचारे च स्वं परं च योजयत्यनुष्ठानेन सम्यग्धं करोति स आचार्यो भवति । स च परल-
ब्धाने ध्यातव्यः । इत्याचार्यपरमेष्ठिन्याख्यानेन सूत्रं गतम् ॥ ५२ ॥

व्याख्यार्थः—“दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे” आधारभूत सम्यग्-
दर्शनाचार और सम्यग्ज्ञानचार है प्रधान जिसमें ऐसे वीर्याचार चारित्राचार और तपश्च-
रणारमें “अप्यं परं च जुंजइ” अपनी आत्माको और अन्य भिष्यजनोंको जो लगाते ।
“सो आयरिओ मुनी ज्ञेओ” वे पूर्वोक्त लक्षणवाले आचार्य तपोधन ध्यान करने योग्य
होते हैं । उसीका विस्तारसे वर्णन करते हैं कि, भूतार्थ (निश्चय) नयका विषयभूत
'शुद्धसमयसार' इसशब्दसे कहने योग्य, भावकर्म—द्रव्यकर्म—भोक्म आदि जो समस्त प-
दार्थ हैं उनसे भिन्न; और परमचेतन्यका विलासरूप लक्षणका धारक ऐसा जो निज गुण
आत्मा है वही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है इस प्रकारकी रुचि होने रूप सम्यग्दर्शन
है; उस सम्यग्दर्शनमें जो आचरण अर्थात् परिणमन करना है उसको निश्चयदर्शनाचार
कहते हैं ॥ १ ॥ उसी शुद्ध आत्माका जो उपाधि रहित स्वसंबेदन (अपने जानने) रूप
भेदज्ञानद्वारा मिथ्यात्व—राग आदि परभावोंसे भिन्न जानना है वह सम्यग्ज्ञान है; उसमें वं
आचरण (परिणमन) करना अर्थात् लगना है वह निश्चयज्ञानाचार है ॥ २ ॥ उस
शुद्ध आत्मामें राग आदि विकल्परूप उपाधिसे रहित जो स्वभावसे उत्पन्न हुआ सुख
उसके आत्मादसे निश्चल चित्तका करना है उसको धीतरागचारित्र कहते हैं; उसमें जो अ-
चरण करना है वह निश्चयचारित्राचार कहलाता है । ३ । समस्त परद्रव्योंमें इच्छाके रोक-
नेसे, इसीप्रकार अनशन अवमौर्द्वय आदि वारह प्रकारके तपको करने रूप बहिरंगमहद्वारी-
कारणसे जो निज स्वरूपमें प्रतपन अर्थात् विजयन है वह निश्चयतपश्चरण कहलाता है
उसमें जो आचरण अर्थात् परिणमन है उसको निश्चयतपश्चरणाचार कहते हैं । ४ । इन

पूर्वोक्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरणरूप भेदोंमें चार प्रकारका जो निश्चय आचार है : उगकी श्लोकस्थित जो अपनी शक्ति (साक्षत) का नहीं छिपाना है वह निश्चयवीर्या-
चर है । ५१ । ऐसे बड़े हुए लक्षणोंका धारक जो निश्चयनयसे पांच प्रकारका आचार है
उसमें, और हमीयकारमें "उत्तीसगुणोंमें सहित, पांच प्रकारके आचारको करनेका उपदेश-
देनेवाले, तथासिध्योपर अनुग्रह (कृपा) रगनेमें, चतुर ऐसे जो धर्माचार्य है उनको मैं
सदा बंधता हूँ । १ ।" इस गाथामें बड़े हुए क्रमके अनुग्रह मूल्याचार, भगवती आराधना
आदि चरणाध्यायोंके साक्षोंमें विस्तारमें बड़े हुए बहिरंगसहकारीकारणों रूप जो व्यय-
हारनयसे पांच प्रकारका आचार है उसमें जो अपनेको तथा परको लगाते हैं अर्थात् आप
उस पांचाचारको साधने हैं और दूसरोंको मधाते हैं वे आचार्य कहलाते हैं । और वे आ-
चार्य परमेष्ठी पदस्यध्यानमें ध्यान करने योग्य हैं ॥ इसप्रकार आचार्यपरमेष्ठीके व्याख्या-
नमें १ गाथाग्र समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अथ स्वशुद्धात्मनि शोभनमध्यायोऽध्यासो निश्चयस्वाध्यायसलक्षणनिश्चयध्यानस्य पारम्प-
र्येण कारणभूतं भेदाभेदरत्नप्रयादितत्त्वोपदेशकं परमोपाध्यायभक्तिरूपं ' जमो उवज्ज्ञायाजं '
इति परोक्षारणलक्षणं यत् पदस्यध्यानं, तस्य ध्येयभूतमुपाध्यायमुनीधरं कथयति ।

अथ निज शुद्ध आत्मा में जो उत्तम (पारंवार) अभ्यास करना है उसको निश्चय
स्वाध्याय कहते हैं । उस निश्चयस्वाध्यायरूप स्वरूपका धारक जो निश्चयध्यान है उसके
परंपरासे कारणभूत, भेद अभेद रूप रत्नप्रय आदि तत्त्वोंका उपदेश करनेवाले और परम-
उपाध्यायभक्तिरूप "जमो उवज्ज्ञायाजं" इस पदके उच्चारणरूप पदस्यध्यानके ध्येयभूत
(ध्यान करने योग्य) ऐसे जो उपाध्याय परमेष्ठी हैं उनके स्वरूपका कथन करते हैं ।

गाथा ।—जो रयणस्तयजुस्तो निषं धम्मोवदेसणे गिरदो ।

सो उवज्ज्ञाओ अप्पा जदिबरवसहो जमो तस्स ॥ ५३ ॥

गाथाभाषार्थः—जो सम्पददर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप रत्नप्रयसे सहित है; निरन्तर
धर्मका उपदेश देनेमें तत्पर है; वह आत्मा मुनीधरोंमें प्रधान उपाध्याय परमेष्ठी कहलाता
है । इसलिये उसके अर्म मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५३ ॥

व्याख्या ।—' जो रयणस्तयजुस्तो ' योऽसौ साक्षाद्व्यन्तररत्नप्रयानुष्ठानेन युक्तः परिणतः ।
' निषं धर्मोवदेसणे गिरदो ' पदद्वयपञ्चालिकायसमप्रवचनवपदार्थेषु मध्ये स्वशुद्धात्मद्रव्यं
स्वशुद्धजीवात्मिकायं स्वशुद्धात्मतत्त्वं स्वशुद्धात्मपदार्थमेवोपादेयं शेष च हेयं, तथैवोत्तमश्रमा-
दिधर्म च नित्यमुपदिशति योऽसौ स नित्यं धर्मोपदेशने निरतो भण्यते । ' सो उवज्ज्ञाओ
अप्पा ' सचेत्यभूतो आत्मा उपाध्याय इति । पुनरपि किं विशिष्टः ।—' जदिबरवसहो '
पञ्चेन्द्रियविषयजयेन निजशुद्धात्मनि यत्नपराणां यतिवराणां मध्ये नृपभः प्रधानो यतिवर-
रूपभः । ' जमो तस्स ' समै द्रव्यभावरूपो नमो नमस्कारोऽस्तु । इत्युपाध्यायपरमेष्ठिव्याख्यान-
रूपेण गाथा गता ॥ ५३ ॥

व्याख्यानार्थः—“जो रयणचयजुत्तो” जो बाह्य तथा आभ्यन्तररूप स्वार्थे अनुष्ठान (साधने) से युक्त हैं अर्थात् निश्चय-व्यवहार स्वरूप रत्नत्रयके साधने से हुए हैं, “णिघं घम्मोवदेसणे णिरदो” जीव, अजीवादि छः द्रव्य, पांच वज्रिहर, सात तत्त्व और नौ पदार्थोंमें निजशुद्ध आत्म द्रव्य, निज-शुद्ध जीवास्तिशाय, निज-शुद्ध आत्मतत्त्व और निजशुद्ध-आत्मपदार्थ ही उपादेय है; अन्य सब त्यागने योग्य हैं; त्रि-विषयका तथा इसीप्रकार उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंका जो निरन्तर उपदेश देते हैं; नित्य धर्मोपदेश देनेमें तत्पर कहलाते हैं; इस कारण नित्य धर्मोपदेशनमें तत्पर हैं “अप्पा” आत्मा हैं; ये “जद्विवरयसहो” पांचो इन्द्रियोंके विषयोंको जीतनेमें निर-शुद्ध-आत्मामें प्रयत्न करनेमें तत्पर ऐसे यतिवरो (मुनीश्वरों) के मध्यमें बुद्धम प्रधान ऐसे ‘उपज्झाओ’ उपाध्याय परमेष्ठी हैं “णमो तस्स” उन उपाध्याय परमेष्ठियोंके अर्थ मेरा द्रव्य तथा भावरूप नमस्कार हो। इस प्रकार उपाध्याय परमेष्ठीके व्याख्यानसे एक गाथायुक्त पूर्ण हुआ ॥ ५३ ॥

अथ निश्चयरत्नप्रयात्मकनिश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गमात्रं परमसाधुभक्तिरूपं ‘णमो लोप सध्वसाहूणं’ इति पदोच्चारणजपध्यानलक्षणं यन् परमसाधु तस्य ध्येयभूतं साधुपरमेष्ठिस्वरूपं कथयति ।

अथ निश्चयरत्नप्रयत्नरूप जो निश्चयध्यान है उसके परंपरासे कारणभूत, बाह्य आभ्यन्तररूप मोक्षमार्गके साधनेवाले और परमसाधुभक्तिस्वरूप जो “णमो लोप साधनं हूणं” यद् यद् है इसके मोलने-जापकरने और ध्यान करनेरूप लक्षणका भगवत् पदस्य ध्यान है उसके ध्येयभूत ऐसे जो साधु परमेष्ठी हैं उनके स्वरूपका निम्न करते हैं ॥

गाथा ।—दंसणणाणसमगं मगं भोक्खस्स जो हु चारिसं ।

माधयदि णिघसुखं साह स सुणी णमो तस्स ॥ ५४ ॥

गाथाभाषार्थः—जो दशन और ज्ञानसे पूर्ण, मोक्षका मार्गभूत, और सरासुख से चरित्रको प्रकट रूपसे साधने हैं वे मुनि साधु परमेष्ठी हैं उनके अर्थ मेरा नमस्कार होय ।

व्याख्यानार्थः—“साह स सुणी” सा मुनिः साधुमेवति । यः किं करोति — “जो हु साधु” दि’ यः कसो हु इष्टुं साधयति । किं ‘चारिसं’ चारित्र्यं कथयन्तं ‘दंसणणाणसमगं’ दंसणणाणसमगं समगं परिपूर्णम् । पुनरपि कथयन्तं ‘मगं भोक्खस्स’ मार्गं भोक्खस्स । पुनश्च किं रूपं ‘णिघसुखं’ नित्य सर्वकालं सुखं सागादिदिनम् । “णमो तस्स” णमो तस्स णिघसुखं यस्मिन् साधने तस्यो नमस्कारोऽस्ति । तथाहि “जगोननमुनेतो निरंजनेन च निरंजयम् । एतद्वत्तत्त्वज्ञानपदसाक्षात्कृत्यसाधना मतिः । १ ।” इत्यादि । “साह स सुणी” इति गाथाकवित्तत्त्वव्यवस्थानिश्चयध्यानस्युक्तिप्रसंगपरः । ५४ ॥

बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गद्वितीयनामाभिधेयेन कृत्वा यः कर्त्ता धीतरागचारित्राविनाभूतं स्वशु-
द्धात्मानं साधयति भावयति स साधुर्भवति । तस्यैव सहजशुद्धसदानन्दैकानुभूतिलक्षणो
भावनमस्कारस्तथा 'जमो स्तोत्र सन्धसाहूणं' द्रव्यनमस्कारश्च भवत्विति ॥ ५४ ॥

व्याख्यानार्थः—“जो” जो ‘हु’ भले प्रकारसे “दंसणणाणसमगं” धीतराग सम्य-
ग्दर्शन और ज्ञानसे परिपूर्ण, “मगं मोक्खस्स” मोक्षका मार्ग (कारण) भूत, “णिच्च-
सुद्धं” सदा शुद्ध अर्थात् राग द्वेषादि रहित ऐसे “चारिच्च” चारित्रको “साधयति”
साधते है “साहू स सुणी” ये मुनि साधु हैं “जमो तस्स” इन पूर्वोक्त गुणोंसे सहित
जो हैं उन साधु परमेश्वरोंके अर्थ नमस्कार हो । सो ही स्पष्टरूपसे दिखलाने हैं कि—“दर्शन,
ज्ञान, चारित्र और तप इनका जो उद्योतन, उद्योग, निर्वहण, साधन और निम्त्रण है
उसको सगुणोंने आराधना कही है । १ ।” इस आर्याछन्दसे कही हुई जो बहिरंग-दर्शन,
ज्ञान, चारित्र और तपभेदोंसे चार प्रकारकी आराधना है उस आराधनाके बलसे तथा
इसीप्रकार “सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सतप ये चारों आत्मामें निबान
करते हैं इस कारण आत्मा ही मेरे कारणभूत है । १ ।” इस गायामें कही हुई जो निश्चय
नयसे अम्यन्तरकी चार आराधना हैं उनके बलसे अर्थात् बाह्य मोक्षमार्ग और अम्यन्तर
मोक्षमार्ग करके जो धीतरागचारित्रका अविनाभूत निज शुद्ध आत्माको साधते हैं अर्थात्
भावते हैं; वे साधु परमेश्वरी कहलाने हैं । उन्हींके लिये मेरा स्वभावसे उत्पन्न-शुद्ध-रमे
सदानन्दकी अनुभूतिलक्षण भावनमस्कार तथा “जमो स्तोत्र सन्धसाहूणं” हम परके
उच्चारणरूप द्रव्यनमस्कार हो ॥ ५४ ॥

एवमुक्तप्रकारेण गायत्र्याञ्जनेन मध्यमप्रतिपक्षया पञ्चपरमेश्विरूपं ज्ञातव्यम् । अथवा
निधयेन “अग्निहोत्रादयोरियाजवशायागाधुर्वपरमेश्वरी । ते वि हु विष्टुर्हि पारे तथा आरा
दु मे कारणं । १ ।” इति गायत्र्यधिकारप्रमाणेन संक्षेपेन, तथैव विष्णवेण पञ्चपरमेश्विरूपमध्य-
मप्रमाणेन, अतिविस्तारेण तु सिद्धचक्रादिदेवार्चनाविधिरूपमन्त्रवादादिसंक्षिप्तमन्त्रप्रमाणेन
चैव । एवं गायत्र्याञ्जनेन द्वितीयगच्छं गतम् ।

इस कहे हुए प्रकारसे पांच गायत्रीद्वारा मध्यम रुचिके धारक शिष्योंको ज्ञान होनेके
लिये पंच परमेश्वरीके स्वरूपका कथन किया गया है; यह जानना चाहिये । अथवा निधम-
नयमें “अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांचों परमेश्वरी जो दे वे भी
आत्मामें ही निष्ठते हैं; इस कारण आत्मा ही मेरे कारणभूत है । १ ।” इस गायामें कहे
हुए ब्रह्मानुसार संक्षेपसे पंच परमेश्वरीका स्वरूप जानना चाहिये । और विस्तारमें पंच
परमेश्वरीका स्वरूप पञ्चपरमेश्वरी नामक ग्रन्थमें बड़े हुए क्रमसे जानना चाहिए । तथा
अत्यन्तविस्तारसे सिद्धचक्र आदि देवोंके पूजनविधिरूप जो मन्त्रवादादिसंक्षिप्त पंचनमस्कार
माहात्म्यनामक ग्रन्थ है उसमें पंच परमेश्वरीका स्वरूप जानना चाहिये । हम प्रकार पंच
गायत्रीसे दूसरा स्थान समाप्त हुआ ॥

अथ तदेव ध्यानं विकल्पितनिश्चयेनाविकल्पितनिश्चयेन प्रकाशयति । पुनरप्याह । तत्र प्रथमपादे ध्येयलक्षणं, द्वितीयपादे ध्यानलक्षणं, तृतीयपादे ध्यानचतुर्थपादेन नयविभागं कथयामीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति ।

अब फिर भी उसी, ध्यानको विकल्पितनिश्चय और अविकल्पितनिश्चयरूप जो प्र प्रकार है उनसे संक्षेप करके कहते हैं । उसमें गाथाके प्रथम पादमें ध्येयका लक्षण कहते हैं, द्वितीय पादमें ध्याता (ध्यान करनेवाले) का लक्षण कहता हूँ, तीसरे पादमें ध्यानका लक्षण कहता हूँ और चौथे पाद (चरण) से नयोंके विभागको कहता हूँ । इस अभिनयके मनमें धारण करके भगवान् श्री नेमिचन्द्रस्वामी इस अग्रिम सूत्रका प्रतिपादन करते हैं ।

गाथा । जं किंचिचि चिंततो गिरीहविस्ती हवे जदा साह ।

लक्षणय एयसं तदाहु तं तस्स णिच्छयं ज्ञाणं ॥ ५५ ॥

गाथाभावार्थः—ध्येय पदार्थमें एकप्र चित्त होकर जिस किसी पदार्थको ध्यान हुआ साधु जब निस्पृह वृत्ति (सब प्रकारकी इच्छाओंसे रहित) होता है उस समय वह उसका ध्यान निश्चय ध्यान होता है ऐसा आचार्य कहते हैं ॥ ५५ ॥

व्याख्या—'तदा' तस्मिन् काले आहुर्मुच्यते 'तं तस्स णिच्छयं ज्ञाणं' तत्तस्य निश्चयप्राप्तमिति यदा किं'गिरीहविस्ती हवे जदा साह' निरीहवृत्तिनिस्पृहवृत्तिर्यदा साधुर्भवति । किं कुर्वन्'न किं वि चिंततो' यत् किमपि ध्येयवस्तुरूपेण वस्तु चिन्तयन्निति । किं कृत्वा पूर्व 'लक्षणय एयसं' तस्मिन् ध्येये लक्षणा किं एकस्य एकप्रचिन्तानिरोधनमिति । अथ विचारः—यत् किंच ध्येयमिच्छतेन वस्तुत्वं भवति ? प्राथमिकापेक्षया सविकल्पावस्थायां निश्चयकयावत्तदवस्थानिरीकरणार्थं पञ्चपरमेष्ठ्यादिवरद्रव्यमपि ध्येयं भवति । पश्चादध्यागम्यशेन निरीहवृत्तिर्भवति यदि शुद्धपदार्थकत्वाभावनिशुद्धात्मस्वरूपमेव ध्येयमिच्छुक्तं भवति । निस्पृहवृत्तिर्गुणनिष्पत्त्यात् वेदत्रयं शास्त्रादिपदार्थकोपादिषु तृप्त्यरूपचतुर्देशाऽध्वन्तरपरिप्रेक्ष्य तेषां चानुशिष्यमुत्पन्नं चतुर्धनदामीदासकुल्यभाण्डाऽभिधानदशविधविहिरङ्गपरिप्रेक्ष्य च तदध्यातृस्वरूपमुक्तं भवति । एकप्रचिन्तानिरोधेन च पूर्वोक्तविविधध्येयवस्तुनि स्थिरत्वं निश्चयं ध्यानलक्षणं भवति । निश्चयशब्देन तु प्राथमिकापेक्षया व्यवहारप्रप्रयानुसूचनमर्थः । निष्प्रयोगनिश्चयपुण्यापेक्षया व्यवहारप्रप्रयानुसूचनमर्थः । निष्प्रयोगेन व्यवहारपुण्यापेक्षया शुद्धोपयोगलक्षणविविधैकदेशानुद्धनमर्थः । विशेषनिश्चयः पुनरपि वक्ष्यमाणमिष्टीति सूत्रार्थः ॥ ५५ ॥

व्याख्यायः—“लक्षणय एयसं” उम ध्येय पदार्थमें एकप्रचिन्ताके निरोधेन तत्तस्य निश्चयप्राप्तमिति यदा किं'गिरीहविस्ती हवे जदा साह' निरीहवृत्तिनिस्पृहवृत्तिर्यदा साधुर्भवति । किं कुर्वन्'न किं वि चिंततो' यत् किमपि ध्येयवस्तुरूपेण वस्तु चिन्तयन्निति । किं कृत्वा पूर्व 'लक्षणय एयसं' तस्मिन् ध्येये लक्षणा किं एकस्य एकप्रचिन्तानिरोधनमिति । अथ विचारः—यत् किंच ध्येयमिच्छतेन वस्तुत्वं भवति ? प्राथमिकापेक्षया सविकल्पावस्थायां निश्चयकयावत्तदवस्थानिरीकरणार्थं पञ्चपरमेष्ठ्यादिवरद्रव्यमपि ध्येयं भवति । पश्चादध्यागम्यशेन निरीहवृत्तिर्भवति यदि शुद्धपदार्थकत्वाभावनिशुद्धात्मस्वरूपमेव ध्येयमिच्छुक्तं भवति । निस्पृहवृत्तिर्गुणनिष्पत्त्यात् वेदत्रयं शास्त्रादिपदार्थकोपादिषु तृप्त्यरूपचतुर्देशाऽध्वन्तरपरिप्रेक्ष्य तेषां चानुशिष्यमुत्पन्नं चतुर्धनदामीदासकुल्यभाण्डाऽभिधानदशविधविहिरङ्गपरिप्रेक्ष्य च तदध्यातृस्वरूपमुक्तं भवति । एकप्रचिन्तानिरोधेन च पूर्वोक्तविविधध्येयवस्तुनि स्थिरत्वं निश्चयं ध्यानलक्षणं भवति । निश्चयशब्देन तु प्राथमिकापेक्षया व्यवहारप्रप्रयानुसूचनमर्थः । निष्प्रयोगेन व्यवहारपुण्यापेक्षया शुद्धोपयोगलक्षणविविधैकदेशानुद्धनमर्थः । विशेषनिश्चयः पुनरपि वक्ष्यमाणमिष्टीति सूत्रार्थः ॥ ५५ ॥

होइ यिरो' येन योगत्रयनिरोधेन स्थिरो भवति । स कः 'अप्पा' आत्मा । कयम्भूतः भिन्ने भवति 'अप्पमि रओ' सहज शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वसम्यक्प्रदानज्ञानानुचरस्य भेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुद्भूतसर्वप्रदेशात्सादजनकमुखात्सादपरिणतिसहितं निजस्वरूपं रतः परिणतसद्दीयमानस्यचित्तसन्मयो भवति । 'इणमेव परं हवे ज्ञाणं' इदमेवानुसृत्य सन्मयत्वं निश्चयेन परमुत्कृष्टे ध्यानं भवति ।

व्याख्यानार्थः—हे ज्ञानी जनो ! "मा चिद्धह मा जंपह मा चित्थ किंवि" निश्च निरंजन और क्रियारहित ऐसा जो निजशुद्ध आत्माका अनुभव है उसको रोझनेवाला जो शुभ अशुभ चेष्टारूप कायका व्यापार है उसको, इसी प्रकार शुभ अशुभ चिन्तनों तथा बहिरंगरूप वचनके व्यापारको और इसी प्रकार शुभ अशुभ विकल्पोंके समूहरूप मनके व्यापारको कुछ भी मत करो "जैण होइ यिरो" जिन मन, वचन और कायस्वरूप तीनों योगोंके रोकनेसे स्थिर होता है; वह कौन ! "अप्पा" आत्मा कैसा स्थिर होता है ! "अप्पमि रओ" सहज शुद्ध ज्ञान और दर्शन स्वभावको धारण करनेवाला जो परमात्मतत्त्व है उसके-सम्यक् अद्वान-ज्ञान तथा आचरण करनेरूप जो अभेदरत्नत्रय है उस रूप जो परम ध्यान है उससे उत्पन्न और सब प्रदेशोंको आनंद पैदा करनेवाला जो शुभ उसके आख्यादरूप परिणति सहित निज आत्मामें परिणत, सत्तीन, तन्मय तथा तत्त्वित होकर स्थिर होता है "इणमेव परं हवे ज्ञाणं" यही जो आत्माके गुणस्वरूप परिणमन होना है वह निश्चयसे परम अर्थात् उत्कृष्ट ध्यान होता है ॥

तस्मिन् ध्याने स्थितानां यद्दीनरागपरमानन्दसुखं प्रतिभाति, तदेव निश्चयमोद्यमानं न च यत् । तच्च पर्यायनामान्तरेण किं किं भण्यते तदभिधीयते । तदेव शुद्धारमस्वरूपं, तदेव परमात्मस्वरूपं, तदेवैकदेशव्यक्तिकरूपविविधैकदेशशुद्धनिश्चयेन स्वशुद्धारमसंविनिगुणप्रभुत्वमूनजलमगोत्रं रागादिमलरहितत्वेन परमार्हसम्पत्स्वरूपम् । इदमेकदेशव्यक्तिकरूपं शुद्धनयना ब्रह्ममन्त्र परमात्मध्यानभावनानाममालायां यथा सम्भव सर्वत्र योजनीयमिति ।

उस परमध्यानमें स्थित हुए जीवोंको जो भीतरागपरमानन्द सुख प्रति भागता है वही निश्चयमोद्यमानस्वरूप है । वह हमारे पर्यायनामोंमें क्या २ कहलाता है अर्थात् उसको नि २ जन्मेने लोग कहते हैं सो कहन किया जाना है । वही शुद्ध आत्माका स्वरूप है, वही परमात्माका स्वरूप है, वही एक देशमें प्रकटनारूप में विवर्धित एक देशशुद्धनिश्चयनयने निजशुद्ध आत्मके ज्ञानेन उत्पन्न जो शुभ वही हुआ जो अमूनजलका गोत्रर उमने राग जन्मेने मन्त्रोंमें रहित होनेके कारण परमार्हसम्पत् स्वरूप है । "इम परमात्मध्यानके भावनेके जन्मेने मन्त्रोंमें इम एकदेशव्यक्तिकरूप शुद्धनयने व्याख्यानको ब्रह्ममन्त्र तब जरी है मन्त्र के अर्थसे अर्थसे ब्रह्ममन्त्र ये सब नाम एकदेशशुद्ध निश्चयनवही भावनामें हैं ऐसा कहना चाहिये ।

तदेव परमध्यानप्रभु, तदेव परमविशुद्धप्रभु, तदेव परमविशुद्धप्रभु, तदेव परमशुद्धप्रभु,

तदेव परमनिजस्वरूपं, तदेव परमस्यात्मोपलब्धिलक्षणं सिद्धम्वरूपं, तदेव निराश्रयम्वरूपं, तदेव निर्मलस्वरूपं, तदेव स्वसंवेदनज्ञानं, तदेव परमतरवज्ञानं, तदेव शुद्धात्मदर्शनं, तदेव परमावस्थास्वरूपं, तदेव परमात्मनः दर्शनं, तदेव परमतत्त्वज्ञानं, तदेव शुद्धात्मदर्शनं, तदेव ध्येयमृतशुद्धपारिणामिकभावस्वरूपं, तदेव ध्यानभावनास्वरूपं, तदेव शुद्धपारित्रं, तदेवात्मस्वरूपं, तदेव परमतत्त्वं, तदेव शुद्धात्मद्वन्द्वं, तदेव परमयोगिः, सैव शुद्धात्मानुभूतिः, सैवात्ममयी-
विः, सैवात्मसन्निविष्टः, सैव स्वस्वोपलब्धिः, स एव निगोपलब्धिः, स एव परमात्मप्राप्तिः, स एव परमानन्दः, स एव नित्यानन्दः, स एव सादृजानन्दः, स एव सदानन्दः, स एव शुद्धात्मपदाध्यव्ययस्वरूपः, स एव परमस्वाध्यायः, स एव निश्चयमोक्षोपायः, स एव अंका-
न्यस्तानिरोधः, स एव परमयोगः, स एव शुद्धोपयोगः, स एव परमयोगः, स एव भूतार्थः, स एव परमार्थः, स एव निश्चयपञ्चाधारः, स एव समप्रसारः, स एवाध्यात्मसाधः, तदेव समतादिनिश्चयपञ्चाधारस्वरूपं, तदेवाभेदरजप्रत्ययस्वरूपं, तदेव बीतरागात्मात्मिकं, तदेव परमशरणोत्तममङ्गलं, तदेव कैवल्यानोत्पत्तिकारणं, तदेव शकलकर्मभयकारणं, सैव निश्चयचतुर्विधाराधना, सैव परमात्मभावना, सैव शुद्धात्मभावनोत्पन्नशुद्धानुभूतिरूपपरम-
कला, सैव दिव्यकला, तदेव परमादितं, तदेव परमागुणपरमवर्मोपधानं, तदेव शुद्धध्यानं, तदेव रागादिबिभक्ष्यशून्यध्यानं, तदेव निष्कलध्यानं, तदेव परमस्वाराध्यं, तदेव परमवीतरा-
गात्वं, तदेव परमसाम्यं, तदेव परमेकत्वं, तदेव परमभेदज्ञानं, स एव परमात्मरसीभावः, इत्यादिखमस्तारागादिबिभक्ष्योपाधिरदितपरमात्मादिकमुपलक्षणध्यानरूपस्य निश्चयमोक्षमार्गे-
स्य बाधकान्यन्याप्यपि पर्यायनामानि विज्ञेयानि भवन्ति परमात्मतत्त्वबहिर्विदि ॥ ५९ ॥

वही परमब्रह्मस्वरूप है, वही परमविष्णुरूप है, वही परमशिवस्वरूप है, वही परमबुद्धस्वरूप है, वही परमनिजस्वरूप है, वही परम निज आत्माधी प्राप्तिरूप लक्षणका धारक जो सिद्ध है उसरूप है, वही निरञ्जनरूप है, वही निर्मल (कर्ममलरहित) स्वरूपका धारक है, वही स्वसंवेदन ज्ञान है, वही परमतत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्माका दर्शन है, वही परम (उत्कृष्ट) अवस्थास्वरूप है, वही परमात्माका दर्शन है, वही परम तत्त्व-
ज्ञान है, वही शुद्धात्मदर्शन है, वही ध्यान करनेयोग्य जो शुद्ध पारिणामिकभाव है उस रूप है, वही ध्यानभावनास्वरूप है, वही शुद्ध पारित्र है, वही अन्तरंगका स्वरूप है, वही परम (उत्कृष्ट) तत्त्व है, वही शुद्ध आत्मा द्वय है, वही परम योगेतिः (ज्ञान) है, वही शुद्ध आत्माधी अनुभूति है, वही आत्माधी प्रतीति है, वही आत्माधी शक्तिपि अर्थात् साक्षात्कार है, वही निजआत्मस्वरूपकी प्राप्ति है, वही नित्य पदार्थकी प्राप्ति है, वही परम सामाधि है, वही वरम आनन्द है, वही नित्य आनन्द है, वही स्वभावसे उत्पन्न हुआ आनन्द है, वही सदानन्द है वही शुद्ध आत्मपदार्थके परमत्व
वही परम स्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्षका उपाय है, वही अंका-
वही परमज्ञान है, वही शुद्ध उपयोग है वही वरम योग है, वही
वही निश्चयनयके अनुसार जो ज्ञान दर्शन, पारित्र, तथा और

विकारमग्नैर्देनमानरूपं भावयुतं च । तथैव च हि सानृतसंयोगाद्व्यभिचारिभावरूपा-
नां परिहरणं प्रत्यक्षं चेति । एवमुक्तलक्षणतपःश्रुतप्रवृत्तिसहितो भ्याता पुरुषो भवति ।
इमेव ध्यानसामग्री चेति । तथाचोक्तं—“वैराग्यं तत्त्ववित्तानं नैर्मन्थं समचित्तता । परीपद-
ज्यधेति पञ्चैते ध्यानहेतवः । १ ।

व्याख्यानार्थः—“तवमुदबद्धं चेदा ज्ञानरहधुरंधरो हवे जम्हा” जित कारणसे कि
तप, श्रुत और मनका धारक आत्मा ध्यानरूपी रमकी धुराको धारण करनेके लिये समर्थ
होता है । “तम्हा तत्तियणिरदा तद्धदीए सदा होह” इस कारणसे हे भव्यो ! उस ध्यानकी
शक्तिके लिये तप श्रुत और मतोंके संबंधसे जो त्रितय है उस त्रितयमें अर्थात् तपः श्रुत तथा मत
इन तीनोंके समुदायमें सर्वकाल (निरन्तर) तत्पर होयो । अब इसीका विशेष वर्णन करते हैं
कि—अननन (उपवासका करना) १ अयमौदर्य (कम भोजन करना) २ वृत्तिपरिसंख्या-
न (अटपटी वृत्तिको ग्रहण करके भोजन करने जाना) ३ रसपरित्याग (हर रसमेंसे एक दो
आदिरसोंका त्याग करना) ४ विविचाराध्यासन (निर्जन और शुद्ध स्थलमें ध्यान करना
व बैठना) ५ कायकेश (शक्तिके अनुसार दरीरमे परिधम लेना) ६ इन भेदोंसे छः प्रकार
का बाध तप और इसी प्रकार प्रायश्चित्त १ विनय २ वैवाच्य ३ स्वाध्याय ४ कायोत्सर्ग
५ और ध्यान ६ इन भेदोंसे छः प्रकारका अन्तरंग तप ऐसे बाध तथा अभ्यन्तर दोनों
तपोंके भेदोंकी मिलानेसे बारह प्रकारका व्यवहारतप है । और उसी व्यवहारतपमें सिद्ध
होने योग्य निज शुद्ध आत्माके स्वरूपमें प्रतपन अर्थात् विजय करने रूप निश्चयतप है ।
इसी प्रकार मूलाधार भगवनी आरापना आदि द्रव्यश्रुत, तथा उन धामोंके आधारसे अर्थात्
पठन पाठनसे उत्पन्न हुआ और विकाररहित निज शुद्ध आत्माके ज्ञानरूप ज्ञानका धारक
भावश्रुत है । तथा इसीप्रकार द्रव्य और भावरूप जो हिता, अग्न (झूठ) स्नेह (चोरी)
अमन (कुशील) और परिमद हैं इनके त्यागरूप पांचमत हैं । ऐसे बड़े हुए लक्षणके
धारक जो तप, श्रुत और मत हैं इनसे सहित हुआ पुरुष ध्याता (ध्यानकरनेवाला) होता
है । और इन तप, श्रुत तथा मतरूप ही ध्यानकी सामग्री है । सो ही कदा है कि “वैराग्य १
तत्त्वोंका ज्ञान २ बाध अभ्यन्तर रूप दोनोंपरिमहोसे रहितपना ३ राग और द्वेषकी रहितभावरूप
साम्यभावका होना ४ और २२ परीपदोंका जीतना ५ ये पांचों ध्यानके कारण हैं । १ ।”

भगवन् ध्यानं तावन्मोक्षमार्गभूतम् । मोक्षार्थिना पुरुषेण पुण्यबन्धकारणत्वाद्गतानि व्याध्या-
नि भवन्ति, भवद्भिः पुनर्ध्यानसामग्रीकारणानि तप श्रुतप्रवृत्तानि व्याख्यातानि, तन्मूक्यं पठत इति ।
तत्रोत्तरं दीयते—प्रतान्येव केवलानि व्याख्यान्वेव न किन्तु पापबन्धकारणानि हितादिविकल्पः
रूपाणि ध्यानप्रतानि साम्यं च व्याख्यानि । तथाचोक्तं पूज्य पादस्थामिभिः—“अपुण्यमप्रतः
पुण्य प्रतैर्मोक्षस्तयोर्बद्धम् । अत्रतानीव मोक्षार्थी प्रतान्यपि तनन्यजेत् ॥१॥ विस्वप्रतानि पूर्व

तासे ग्यारह अंग चौदह पूर्वपर्यन्त श्रुत ज्ञान होता है, और जंघन्यरीतिसे पांच सन्नि-
तीन गुणियों मात्र ही श्रुतज्ञान होता है ।

अथ मतं—मोक्षार्थं ध्यानं क्रियते न चाद्य काले मोक्षोऽस्ति; ध्यानेन किं प्रयोजनम् । नैवं-
कालेऽपि परस्परया मोक्षोऽस्ति । कथमिति चेत् स्वशुद्धात्मभावनावलेन संसारस्थितिं मोक्षं
कृत्वा देवलोकं गच्छति, तस्मादागम्य मनुष्यमये रत्नत्रयभावनां लब्ध्वा शीघ्रं मोक्षं गन्तु-
मीति । येऽपि भरतसगररामपाण्डवादयो मोक्षं गतालेपि पूर्वमवेऽभेदरत्नत्रयभावना संसार-
स्थितिं लोकां कृत्वा पश्चान्मोक्षं गताः । तद्वदे सर्वेषां मोक्षो भवतीति नियमो नास्ति । ए-
मुक्तप्रकारेण अल्पश्रुतेनापि ध्यानं भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम्—“वयवन्पण्डितदेहेना-
द्रागाच्च परकलत्रादेः । आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशद्वाः । १ । संस्तरकलत्र-
संश्रयणात्त्वदीयं चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन् । तत्रार्थतलत्र चरानि न किं च
नापि पथे परं भवति कल्मषसंश्रयस्व । २ । दौर्बध्यदग्धमनसोऽन्तरुपात्तमुक्तेक्षितं पयोडली-
ते स्फुरितोत्तरङ्गम् । घात्रि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंसे कौतरकुटी तत्र भवेद्विकला प्रसूतिः । ३ ।
कं खिद फलुसिदभूतो कामभोगेहि मुच्छिदो जीवो । न य मुंजतो भोगे बन्धदि भावेन कम्मा-
णि । ४ ।” इत्याद्यपध्यानं त्यक्त्वा—समस्ति परिव्रजामि निममत्तिमुपहिदो । आलम्बनं च
आदा भवसेसाहं वोसरे । १ । आदा कम्पु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरिते य । आदा प-
क्खाणे आदा मे संपरे जोगे । २ । एगे मे सस्सदो अप्पा णाणइसंणलक्खणो । मेसा
याहिरा भावा सत्थे संजोयलक्खणा । ३ । इत्यादिसारपदानि गृहीत्वा च ध्यानं कर्तव्यमिति

अब कदाचित् तुम्हारा यह मत हो कि,—मोक्षके लिये ध्यान किया जाता है और मो-
क्ष पंचम कालमें होता नहीं है इस कारण ध्यानके करनेसे क्या प्रयोजन है । सो क-
सिद्धान्त भी ठीक नहीं । क्योंकि, इस पंचमकालमें भी परंपरासे मोक्ष है । परंपरासे मो-
क्ष कैसे है ? ऐसा पूछा तो उत्तर यह है कि; ध्यानी पुरुष निजशुद्ध आत्माकी भावना
मन्त्रमे संमाग्री स्थितिको अल्प करके अर्थात् बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करके स्वर्गमें जाता
है । और वहांसे मनुष्यमयमें आकर रत्नत्रयकी भावनाको प्राप्त होकर शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त
जाता है और जो भरतचक्रवर्ती, सगरचक्रवर्ती, रामचंद्रजी तथा पांडव अर्थात् दुर्गि-
अर्जुन और भीम आदि मोक्षको गये हैं, उन्होंने भी पूर्वमयमें अभेदरत्नत्रयकी भावना
अने संसारकी स्थितिको पटानी थी; इस कारण इस मयमें मोक्ष भोगे । उगी मय
मयमें मोक्ष हो जाता है ऐसा नियम नहीं है । ऐसे कहे हुए प्रकारसे अल्पश्रुतज्ञानमें
ध्यान होता है । यह जानकर क्या करना चाहिये ? “द्वेषसे बध (मारना) बन्ध (कान्त-
छेद (किमी अंगको काटना) आदिका और रागमे परमी आदिका जो भिन्नवन कान्त
उमको विनमत्तमें निर्मल बुद्धिके धारक आचार्य अपध्यान (बुद्ध ध्यान) कहते हैं । १ ।
हे जीव संकल्पकी कल्पवृक्षका आश्रय करनेमें तेरा निवृत्त इम मनोरथ सागमें डूब जा-
ए; और उम संकल्पकी कल्पवृक्षका आश्रय करनेमें यद्यपि इष्टपदार्थका अनुभव होता है वह

[illegible]

अथ मोक्षविषये पुनरपि व्यवस्थितः कथ्यते । तस्मात् मोक्षमात्रं बन्धपूर्वकं ॥ तथाप्येवं
 पुनरेव इत्यभेदेऽपि मोक्षो मोक्षो न कथ्यते । अत्रापि मोक्षेने नैव गुणैर्यो निरर्थकः ॥
 अत्रापि पुनरभिप्रायनेन गतिः । तथा बन्धपूर्वको मोक्षोऽपि । यदि पुनः पुनरभिप्रायेण बन्धो
 भवेत् तदा सर्वदेह बन्ध एव मोक्षो गतिः । किंच—यथा गुरुत्वाच्चतुस्तुल्यं बन्धवत्तद-
 वातमुनमन्मोक्षमात्रोक्तं बन्धवत्तदवातमूर्तं दीप्तं पुनरपरत्वं न भवति, तथैव सत्त्व-
 त्पुनरपरत्वं द्रव्यमोक्षमात्रोक्तं बन्धवत्त्वं न भवति । किन्तु ताभ्यां भिन्नं
 बन्धं द्रव्यादादिकं नैव पुनरवस्थत्वं । तथैव पुनोपयोगवत्त्वं चावमोक्षवत्त्वं पुन-
 रभिप्रायेण जीवमात्रं न भवति, तथैव तेन साध्यं सत्त्विकमभेदेसायोः बन्धवत्त्वं द्रव्यमोक्षवत्त्वं
 तदपि जीवमात्रोक्तं न भवति । किन्तु ताभ्यां भिन्नं यदनन्ततानादिगुणस्वरभावं पदमूर्तं
 तदेव पुनरवस्थत्वं गतिः । अयमत्रार्थः—यथा विवक्षितेऽभेदेऽपि पुनरभिप्रायेण पूर्व मोक्षमात्रो
 क्तवातमात्रं यथाप्यमोक्षवत्त्वं मोक्षोऽपि । न च पुनरभिप्रायेणैवेति । यस्तु पुनरवस्थत्वं
 एव पुनरपि ताभ्यां निरूपयमात्रमात्रवत्त्वं पुनरभिप्रायेणैव मोक्षमात्रवत्त्वं ध्यानभावनापर्याये ध्येयो
 भवेत्तदर्थः नैव न । न एव ताभ्यां निरूपयमात्रमात्रवत्त्वं मोक्षमात्रवत्त्वं ध्यानभावनापर्याये ध्येयो
 भवति । न च ध्यानभावनापर्यायवत्त्वं । यदि पुनरवस्थत्वं द्रव्यादादिकं नैव नापि स एव
 मोक्षमात्रवत्त्वं ध्यानभावना पर्यायो भवति तर्हि द्रव्यपर्यायवत्त्वं द्रव्याधारभूतस्य जीव-
 न्नो मोक्षपर्याये जाते गतिः यथा ध्यानभावनापर्यायवत्त्वेन विनाशो भवति, तथा ध्येय-
 भूतस्य जीवस्य पुनरपि ताभ्यां निरूपयमात्रमात्रवत्त्वं विनाशः प्राप्नोति । न च द्रव्यवत्त्वं
 विनाशोऽस्ति । ततः स्थितं पुनरपि ताभ्यां निरूपयमात्रमात्रवत्त्वं न भवति इति ।

अब मोक्षके विषयमें फिर भी नयाँके विचारका कथन करते हैं। सो ही दिखाते हैं

कि, मोक्ष जो है वह वन्धपूर्वक है अर्थात् जिसके पढ़ने बंध होता है उमीकें में बंध है। सो ही कहा है कि, 'जो यदि यह जीव मुक्त है तो पढ़ने इस जीवके बंध प्रसन्न होना चाहिये। यदि कहो कि जीवके पढ़ने वन्ध नहीं था तो जीवके मोचन (मुक्त) कैसे हुआ! क्योंकि बिना बंधे हुए जीवके मोचन नहीं हो सकता। इस विषे बंध नहीं प्राप्त हुए जीवके माननेमें मुन् धातुका जो छूटने रूप अर्थ है वह व्यर्थ होता है। भाषार्थ—जैसे कोई पुरुष पढ़ने बंधा हुआ हो और फिर छूट तब वह मुक्त कहलाता है। इसी प्रकार जो जीव पढ़ने कर्ममें बंधा हुआ होता है उमीका मोक्ष होता है। यह वन्ध शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे नहीं है। तथा वन्धपूर्वक मोक्ष भी शुद्ध-निश्चयनयसे नहीं है। और यदि शुद्ध-निश्चयनयसे बंध होवे तो सदा ही इस आनाके बंध मोक्ष होवे ही नहीं। जैसे शृंगला (सांकल व जंजीर) में बंधे हुए पुरुषके, बंधके नाशके कारणभूत जो भावमोक्ष है उसके स्थानवाला जो शृंगलाके बंधको छेदनेका कारणभूत पौरुष (उद्यम) है वह पुरुषका स्वरूप नहीं है। और इसी प्रकार द्रव्यमोक्षके स्थानवाला प्राप्त (प्राप्तमें आया हुआ) जो शृंगला और पुरुष इन दोनोंका जुदा करना है वह भी पुरुषका स्वरूप नहीं है; किन्तु उन पौरुष और पृथक्करणसे जुदा जो देखा हुआ इस पुरुष आदि रूप आकार है; वही पुरुषका स्वरूप है। उसी प्रकार शुद्धोन्मोक्षलक्षण जो मोक्षका स्वरूप है; वह शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे जीवका स्वरूप नहीं है। और उसी प्रकार उस भावमोक्षसे साध्य जो जीव और कर्मके प्रवेशोंको जुदा करने रूप द्रव्यमोक्षका स्वरूप है; वह भी जीवका स्वभाव नहीं है। किन्तु उन भावमोक्ष और द्रव्यमोक्षसे भिन्न जो फलभूत ज्ञान आदि गुणरूप स्वभाव है; वही शुद्ध जीवका स्वरूप है। यहां पर भाषार्थ यह है कि, जैसे विवक्षित—एकदेशशुद्धनिश्चयनयसे पहिले मोक्षमार्गका व्याख्यान किया है; उसीप्रकार पर्यायमोक्षरूप जो मोक्ष है उसका कथन भी विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनयसे ही जानना चाहिये। और शुद्धनिश्चयनयसे नहीं। और जो शुद्ध-द्रव्यकी शक्तिरूप शुद्धपारिणामिक परमभावरूप लक्षणका धारक परमनिश्चयमोक्ष है वह तो जीवमें पहले ही विद्यमान है। वह परमनिश्चयमोक्ष जीवमें अब होगा ऐसा नहीं है। तथा राम आदि विकल्पोक्त रहित मोक्षका कारणभूत जो ध्यानभावनापर्याय है उसमें वही मोक्ष ध्येय होता है। और ध्यान भावनापर्यायरूप ध्येय नहीं है। और यदि एकान्त करके द्रव्याधिकनयसे भी वही मोक्ष-कारणभूत ध्यानभावना पर्याय कहा जावे तो; द्रव्य और पर्यायरूप दो धर्मोंका आधार जो जीवधर्मा है; उसके मोक्षपर्याय प्रकट होने पर जैसे ध्यानभावनापर्यायरूपमें विनाश होता है। उमी प्रकार ध्येयभूत जो जीव है उसका शुद्धपारिणामिकलक्षणभावद्रव्यरूपमें भी विनाश प्राप्त होता है। और द्रव्यरूपमें विनाश है नहीं। इस कारण शुद्धपारिणामिकभावमें जीवके वन्ध और मोक्ष नहीं होता है; यह कथन सिद्ध होगया।

अथात्मशब्दार्थः कथ्यते । अतश्चातुः सातत्यगमनेऽर्थे वर्तते । गमनशब्देनात्र ज्ञानं भ-
ष्यते 'सर्वे गत्यर्थं ज्ञानार्था इति वचनात्' । तेन कारणेन यथासंभवं ज्ञानसुरादिगुणेषु
वासमन्तान् अनति वर्तते यः ॥ आत्मा भण्यते । अथवा शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारै-
वासम्भवं सीप्रमन्दादिरूपेण वासमन्तादतनि वर्तते यः स आत्मा । अथवा उत्पादन्ययधौ-
म्यैवासमन्तादतनि वर्तते यः स आत्मा । किञ्च—यथैकोऽपि चन्द्रमा नानाजलघटेषु दृश्यते
तथैकोऽपि जीवो नानाशरीरेषु तिष्ठतीति वदन्ति तच्च न घटते । कस्मादिति चेन्—चन्द्रकि-
रणोपाधिबोधेन घटस्थजलपुद्गला एव नानाचन्द्राकारेण परिणता, नचैकचन्द्रः । तत्र दृष्टा-
न्त्वमाह—यथा देवदत्तमुखोपाधिबोधेन नानादर्पणस्थपुद्गला एव नानामुखाकारेण परिणता,
न चैकं देवदत्तमुखं नानारूपेण परिणतम् । परिणमतीति चेन्—तर्हि दर्पणस्थप्रतिबिम्बं घेतन्यं
प्राप्नोतीति । न च तथा । किन्तु यद्येक एव जीवो भवति, तदैकजीवस्य मुखदुःखजीवित
मरणादिके प्राप्ते तस्मिन्नेव क्षणे सर्वेषां जीवितमरणादिकं प्राप्नोति न च तथा दृश्यते ।

अत्र आत्मा शब्दका अर्थे कहते हैं । अतः चातुः निरन्तर गमन करने रूप अर्थमें वर्तता
है और 'सब गमनरूप अर्थके धारक चातुः ज्ञान अर्थके धारक है' इस वचनसे यहाँ पर
गमन शब्द करके ज्ञान कहा जाता है । इस कारण जो यथासंभव ज्ञान सुख आदि गुणोंमें
पूर्णरूपसे वर्तता है वह आत्मा है । अथवा शुभ-अशुभ रूप जो मन वचन कायके व्यापार
हैं उनकरके यथासंभव सीप्र मन्द आदि रूपसे जो पूर्ण रूपसे वर्तता है वह आत्मा कद-
लाना है । अथवा उत्पाद व्यय और धीव्य इन तीनोंकरके जो पूर्णरूपसे वर्तता है उसको
आत्मा कहते हैं । और कितने ही ऐसा कहते हैं कि, जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जलके
भी हुए घटोंमें देखा जाता है इसी प्रकार एक ही जीव अनेकशरीरोंमें रहता है सो यह
उनका कथन घटता नहीं । क्यों नहीं घटता? ऐसा पूछो तो उत्तर यह है कि जलके घटोंमें
चन्द्रमाकी किरणरूप उपाधिके वशासे घटमें विद्यमान जो जलके पुद्गल हैं वे ही अनेक
प्रकारके चन्द्रमारूप आकारोंमें परिणत हुए हैं और एक चन्द्रमा जो है वह अनेकरूप नहीं
परिणमा है । इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे—देवदत्तके मुखरूप उपाधिके वशासे
अनेक दर्पणोंमें स्थित जो पुद्गल हैं वे ही अनेकमुखरूप परिणमते हैं और एक देवदत्तका
मुख अनेकरूप नहीं परिणमता है । यदि कहो कि, देवदत्तका मुख ही अनेक मुखरूप
परिणमता है तो दर्पणस्थित जो देवदत्तके मुखका प्रतिबिम्ब है वह घेतनताको प्राप्त होवे;
परन्तु ऐसा नहीं अर्थात् दर्पणमें जो मुखका प्रतिबिम्ब है वह घेतन नहीं है । और भी
विशेष यह है कि यदि अनेक शरीरोंमें एक ही जीव हो तो जब एक जीवको मुख, दुःख
जीवित और मरण आदि प्राप्त होवें तब उसी क्षणमें सब जीवोंको मुख, दुःख, जीवित
और मरण आदि प्राप्त होवें और ऐसा देखनेमें नहीं आता है ।

अथवा ये वदन्ति यथैकोऽपि समुद्र बापि क्षारजलः बापि मिष्टान्नरसैकोऽपि जीवः
सर्वदेहेषु तिष्ठतीति । तदपि न घटते । कथमिति चेन्न—जलरसवैभवात् । पुद्ग-
लोपेक्षया तत्रैकत्वम् । यदि जलपुद्गलापेक्षया यक्येकारवं तर्हि वज्रदे

सहैव किम्रायाति । ततः धिनं पोडमवर्णिकासुवर्णगमिष्वदनन्तमानादिनम्रं प्रत्येकं जीव-
राशिं प्रति न चैकजीवापेक्षयेति । अर्थात्तममन्त्रस्यार्थः कथ्यते ।
फलपजालरूपपरिहारेण स्वशुद्धात्मन्यधि यदनुष्ठानन्तदध्यात्ममिति । एवं
ख्यानोपसंहाररूपेण गाथा गता ॥ ५७ ॥

अथवा जो ऐसा कहते हैं कि, 'जैसे एक ही समुद्र कहीं तो सारे जलवाला है, वही
मीठे जलका धारक है, उसी प्रकार एक ही जीव सब देहोंमें विद्यमान है' सो यह ज्ञान
भी घटित नहीं होता । क्यों नहीं पड़ता यह पूछो तो उत्तर यह है कि, समुद्रमें अलग-
शिकी अपेक्षासे एकता है और जलके पुद्गलोंकी अपेक्षासे एकता नहीं है । यदि जल-
पुद्गलोंकी अपेक्षासे एकता होती है तो समुद्रमेंमें अल्प (थोड़ा जल ग्रहण करनेपर वेग
(बचा हुआ) जो जल है वह भी साथ ही क्यों नहीं आ जाता है । इस कारण सोब-
बानीके सुवर्णकी राशिके समान अनन्तज्ञान आदि लक्षणोंके प्रति जीवराशियें एकता है
और एक जीवकी अपेक्षासे जीवराशियें एकता नहीं है । अब अध्यात्म शब्दका अर्थ करते
हैं । मिथ्यात्व, राग आदि जो समस्त विकल्पोंके समूह हैं उनका त्याग करके जो निव
शुद्ध आत्मामें अनुष्ठान (प्रवृत्ति कराना) है उसको अध्यात्म कहते हैं । इसप्रकार ध्यानकी
सामग्रीके ध्याख्यानके उपसंहाररूपसे यह गाथा समाप्त हुई ॥ ५७ ॥

अथौद्धत्यपरिहारं कथयति ।

अब प्रेमकार अपने औद्धत्य (अभिमान) को दूर करनेके लिये अग्रिम छन्द कह का
शास्त्रको समाप्त करते हैं ।

द्वयसंगहमिणं मुनिणाह

दोससंचयबुदा सुदपुण्णा ।

सोधयंतु तणुसुत्तधरेण

नेमिचन्द्रमुनिणा भणियं जं ॥ ५८ ॥

काव्यभाषार्थः—अल्पज्ञानके धारक मुझ (नेमिचन्द्र मुनी) ने जो यह द्वयसंग्रह
कहा है इसको दोषोद्धारित और ज्ञानसे परिपूर्ण ऐसे आचार्य शुद्ध करें ॥ ५८ ॥

इति श्रीनेमिचन्द्रमिद्धान्तिदेवविनिर्मितो बृहद्रव्यसंग्रहः समाप्तः ।

व्याख्या । "सोधयंतु" शुद्धं कुर्वन्तु । के कर्तारः ? "मुनिणाह" मुनिनाया मुनि-
प्राणाः । किंविशिष्टाः ? "दोससंचयबुदा" निर्दोषपरमात्मनो विलक्षणा ये रागादिदोषात्मयै-
व निर्दोषपरमात्मादितत्त्वपरिज्ञानविषये संशयनिमोदविभ्रमास्तैश्च्युता रहिता दोषसंचय-
च्युताः । पुनरपि कथम्भूताः ? "सुदपुण्णा" वर्त्तमानपरमात्माभिधानद्रव्यभुक्तेन तथैव तदा-
भासेत्यप्रतिनिश्चकारमसत्त्वेदज्ञानरूपभावभुक्तेन च पूर्णाः समप्राः भुक्तपूर्णाः । के सोधयन्तु ?
"द्वयसंग्रहमिणं" शुद्धयुक्तेस्त्वभावपरमात्मादिद्रव्याणां सन्नहो द्रव्यसंग्रहस्तं द्रव्यसंग्रहा-

